कहाँ क्या है

ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त-

परमपूज्य श्री १०५ ऐलक

श्री वृषभसागर जी महाराज.

॥ श्री महावीराय नमः ॥

श्री १०५ पूज्य ऐलक वृषभसागर जी
महाराज का

जीवन-परिचय

मध्यप्रदेश में एक गढ़ी नाम का ग्राम है जो कि मोरेना से भिंड को रोड गया है उसी रोड पर पड़ता है। वही स्थान आपकी जन्मभूमि है। आपका जन्म मगसिर कृष्णा द्वादशी सम्वत् १९६२ ई० में हुआ। आपकी जाति खरौवा गोत्र पांड, पिता जी का नाम पातीराम जी तथा माता का नाम मथुराबाई था। आपका जन्म का नाम शिखरचन्द जी था। वहां से एक सिरसागंज नाम का कस्बा है जोकि जिला मैनपुरी में है उसमें किसी कारणवश या आजीविका साधन नहीं होने के कारण आकर आपके पितामह, पिताजी वगैरह सब कुटुम्ब निवास करने लगा। उस समय आपकी उम्र केवल ६ माह की ही थी। यहीं पर

ही आपका पालनपोषण सुचारू रूप से हुआ। फिर ७ वर्ष की उम्र में एक जैन पाठशाला में विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। करीबन १० वर्ष तक विद्याध्ययन किया। उसके बाद १८ वर्ष की उम्र में आपको शादी श्री जानकीप्रसाद जी की सुपुत्री रतनाबाई के साथ हो गई। उसके बाद घर के काम धंधे में लग गये।

२५ वर्ष की उम्र में ही आपके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। सारा गृहस्थी का भार आप पर आ पड़ा। इस कारण चिंतित होकर एक व्यक्ति के साथ कलकत्ता चले गए। वहां पर ५ या ७ दिन रहे, लेकिन इनको अच्छा नहीं लगा। वहां से खड़गपुर आ गए। वहां की आबोहवा आपको सुखद एवं स्वास्थ्यवर्धक प्रतीत हुई, इसलिए वहीं पर दृढ़ संकल्प पूर्वक निवास करने लगे। एक वर्ष तक तो आप अपने बहनोई जी के साझे में कपड़े का धंधा अकेले करते रहे, बाद में अपनी धर्मपत्नी को सिरसागंज से लिवा ले गए। लेकिन अशुभकर्म का उदय चल ही रहा है, फिर अलग होकर स्वतन्त्र रूप से कपड़े का धंधा करने लगे। तीन वर्ष तक व्यापार किया, मगर कुछ सफलता नहीं हुई, इसके बाद कारोबार बन्द करके एक कपड़े के दुकानदार के यहां मुनीमी का कार्य करने लगे। करीब ८ वर्ष तक मुनीमी की।

इसी अर्से में एक पुत्र का उत्पत्ति हुई उसका नाम श्री माणिकचन्द रक्खा। उसके बाद एक लड़की का जन्म हुआ लड़की का नाम कमलाबाई रखा गया। बाद में एक दूसरे पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम उत्तमचन्द रखा गया। इस तरह ग्यारह साल में तीन सन्तान की उत्पत्ति हुई। इसके बाद युद्ध की संभावना खड़ी हो गई। उस समय सब लोग इधर उधर

भागने लगे। लेकिन आपने सब बाल बच्चों को इटावा भेज दिया और आप अकेले ही रहे। इसके बाद आप जिस दुकान पर मुनीमी का कार्य करते थे, वह दुकानदार दुकान उठा कर अपने देश पंजाब चला गया। अब अशुभ-कर्म ने पल्टा खाया और शुभ-कर्म का उदय आया। दुकान तो पहले से ही थी, उसी दुकान पर बैठना शुरू कर दिया। थोड़ा पूंजी से अच्छा कारोबार चलने लगा। दिनोंदिन उन्नति होने लगी। इसके बाद बालबच्चों को भी पास बुला लिया। लड़के को स्कूल में भर्ती कर दिया। इसी प्रकार ५ साल काम किया। अब आपके पास करीबन १० हजार की पूंजी हो गई। इसके बाद लड़के ने भी पढ़ना छोड़ दिया और दुकान पर ही बैठने लगा। उसका दुकानदारी करने का बड़ा शौक हो गया। उस समय इस लड़के की उम्र करीब १६ साल की थी। फिर आपका कुछ ऐसा विचार हुआ कि यह संसार असार है, अतः आत्मा का कल्याण करना चाहिए।

फिर आपने ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि जिस समय यह लड़का पूरी तौर से गृहस्थी का भार सम्हाल लेगा, उसी समय घर त्याग कर आत्म कल्याण के मार्ग में लग जाऊंगा। इसके बाद ५ साल तक फिर लड़के के साथ दुकान पर बैठे। लेकिन उदासीन रूप से काम किया। इसी अर्से में २ पुत्रों का जन्म और हो गया। एक का नाम ज्ञानचन्द दूसरे का नाम अमोलकचन्द रक्खा गया। अब आपके चार पुत्र व एक पुत्री हो गई, अब आपने दुकान पर बैठना थोड़ा थोड़ा कम कर दिया। कारोबार का भार लड़के पर ही डालते चले गये। इस अर्से में लड़के का विवाह कलकत्ता निवासी श्री मुशालाल जी की सुपुत्री इन्द्राणी जी के साथ हो गया। और फिर ~१ वर्ष बाद लड़की का भी विवाह कर दिया। बस अब आपने निश्चिन्त होकर

दुकान पर जाना बिल्कुल बन्द कर दिया। घर पर ही रहना, धर्म सेवन करना और जब कभी दुकान पर देखभाल कर आया करते थे। यही अवसर चाहते थे कि कब पिंजड़े का दरवाजा खुले कि उड़ जायें।

इसी अर्से में पूज्य श्री १०८ मुनि विमलसागर जी महाराज का शुभागमन हुआ। महाराज सा० उदयगिरी खडगिरी की यात्रा को जा रहे थे, उनके साथ आप भी उदयगिरि खडगिरि पहुँचाने को गए। वहां पर आपको महाराज सा० ने २ प्रतिमा पालन करने को कहा। आपने स्वीकार किया। फिर महाराज सा० के सामने यह प्रतिज्ञा करली, कि मैं तीन वर्ष तक घर में रहूँगा, इसके बाद क्षुल्लक पद धारण करूंगा। यह प्रतिज्ञा महाराज सा० ने अपने रजिस्टर में नोट कर ली। फिर आप वहां से घर चले आये। और तीन वर्ष तक ही घर में रह कर दो प्रतिमा का पालन करते रहे। इसी अर्से में दूसरे लड़के का सम्बन्ध आ गया जिसका नाम उत्तमचन्द है। कलकत्ता निवासी श्री पांडे माणिकचन्द जी की सुपुत्री सुशीलादेवी के साथ विवाह हो गया। तीन वर्ष के अन्दर आपने मकान पक्का बनवाया, और उत्तमचन्द की शादी के बाद ६ माह का अर्सा देकर महाराज सा० का पत्र आया। उस समय पूज्य महाराज सा० का चातुमास बम्बई के निकट 'कल्याण' ग्राम में हो रहा था। उन्होंने पत्र में लिखा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा का समय पूर्ण हो रहा है मोहनिद्रा में क्यों सोये हुए हो ? जागो और सचेत हो जाओ।" पत्र का पढ़ते ही आप महाराज सा० के पास फल्टण पहुँचे। वहां पर ही आपने सात प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी गृहत्यागी की दीक्षा लेली। पूज्य महाराज सा० ने दीक्षा देकर आपका शिवसागर नाम रक्खा। दीक्षा का समय कार्तिकसुदी एकादशी

कुरावली नामक कस्बा में आ पहुँचे। तीसरा चातुर्मास यहीं पर हुआ। वहां से विहार कर आगरा आ पहुँचे। यहां पर गुरु महाराज सा० का समागम हो गया। फिर वहाँ से विहार कर गुरु महाराज सा० के साथ झांसी आ पहुचे। यहां पर आप का स्वास्थ्य खराब हो गया। इसलिए गुरु महाराज विहार कर गए। आप वहीं पर रहे और पृथक २ मुहल्लों में विचरते रहे। चौथा चातुर्मास भी यहीं पर किया। बाद विहार कर वहां से चन्देरी आ पहुँचे। पांचवाँ चातुर्मास चन्देरी में हुआ। वहां पर अच्छी धर्म-प्रभावना हुई। फिर बाद चातुर्मास के विहार करते करते ललितपुर आ पहुँचे। छठवाँ चातुर्मास ललितपुर में हुआ। वहा से विहार करते २ पपौरा जी क्षेत्र आ पहुँचे। वहाँ पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी, उसी में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज सा० का व विमलसागर जी महाराज सा० का संघ का समागम हुआ। फिर बाद में वहाँ से विहार कर श्री द्रोणगिरि, रेशन्दागिरि आदि सिद्धक्षेत्रों की वंदना करते हुए झांसी मंहल्ला तगत सैदपुर म सातवाँ चातुर्मास किया।

यह आपका पवित्र जीवन चरित्र है। आपका जीवन चरित्र पढ़कर यह विचार करने की आवश्यकता है कि जीवों के परिणामों की गति बड़ी विचित्र है। यह मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है। अगर नीचे गिरने का काम करे तो निगोद का पात्र या नारकी हो जाय। अगर ऊपर चढ़ने का काम करे तो सिद्धालय में सिद्ध भगवान बन जाय। आपको देखिये, जब अशुभ कर्म चलता रहा तब गिरी हालत में गृहस्थी का पालन पोषण किया, जब शुभ कर्म का उदय आया तब सब कुछ इष्ट प्राप्त होने पर भी त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। गृहस्थी

में आपने सुख नहीं समझा। इस सुख को सुखाभास समझा। संसार पाप पुण्य का नाटक है। इससे विरक्त होकर आत्मकल्याण कर लेना बुद्धिमान का काम है।

श्रद्धावनत—
सुमेरचन्द जैन शास्त्री
मड़ावरा (झाँसी)

॥ ॐ ॥

आत्महित सहज साधन

मंगलाचरण

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा ।
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयं ॥
तं वंदे साधुवंद्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं ।
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥१॥

अर्थ—जिसने संसार के जानने योग्य समस्त पदार्थों को जान लिया हो, जो लहराते हुए संसाररूपी समुद्र से पार हो चुका हो, जिसके वचन पूर्वापर विरोध रहित निर्दोष और अनुपम हों, जिसने समस्त दोषों को नष्ट कर दिया हो, और जो समस्त गुणों का भण्डार हो, मैं उस महापुरुष को चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध अथवा महावीर कोई भी हो नमस्कार करता हूँ।

संसार रूपी वृक्ष की जड़

इस भवतरु को मूल इक, जानहु मिथ्याभाव ।
ताको कर निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाय ॥

मिथ्यात्व का प्रभाव

मिच्छत्त वेदंतो जीवो विवरीयदसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥

अर्थ—मिथ्यात्व को वेदन करते हुये जीव के विपरीत दर्शन होता है उसको धर्म नहीं रुचता है । जैसे पित्तज्वर वाले को मीठा दुग्धादि रस नहीं रुचता ।

अतत्त्वमपि पश्यन्ति, तत्त्व मिथ्यात्वमोहिताः ।
मन्यन्ते तृषितास्तोयं, मृगा हि मृगतृष्णिका ॥

अर्थ—मिथ्यात्व से मोहित प्राणी खोटे तत्वों को तत्व समझते हैं, जैसे प्यासे हरिण मृगमरीचिका को जल समझते हैं ।

सम्यक्दर्शन का लक्षण

श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं, सम्यग्दर्शनमस्मयं ॥१॥

अर्थ—सच्चे आप्त देव शास्त्र गुरुओं का श्रद्धान करने को सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यक्दर्शन दो प्रकार होता है—एक व्यवहार दूसरा निश्चय । जो अपनी आत्मा का ही श्रद्धान करता वह निश्चय सम्यक्दर्शन है । और सच्चे देव शास्त्र, गुरु अथवा सात तत्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्दर्शन है ।

व्यवहार के २ भेद हैं, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय । जो निश्चय का आश्रय लेकर व्यवहार है वह सद्भूत व्यवहारनय है । यही निश्चय सम्यक्दर्शन का साधक है और

निश्चय के बिना लेकर व्यवहार है वह असद्भूतव्यवहारनय है। यह व्यवहार निश्चय का साधक नहीं है। इससे मोक्ष का मार्ग नहीं बनता है। संसार का ही मार्ग बनता है। जैसे किसी ने शंका की, जब आपने कहा कि बिना निश्चय के मोक्षमार्ग नहीं होता तो फिर यह पूजा करना, दया पालना आदि शुभ काम करना बंद कर देना चाहिये ?

समाधान—जब तक तुम्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति न होवे तब तक यह शुभ काम करने की आवश्यकता है। अगर यह शुभ काम नहीं करेगा तो संसार में रहकर दुःख उठायेगा। यह करने से पुण्यबंध होता है। इससे संसार में इष्ट सामग्री की प्राप्ति होती है इससे संसारी सुख मिलता है। जब तक संसार में रहना है तब तक यह शुभ काम करते रहना चाहिये। इसमें जो तुमने मोक्ष मिलने की मान्यता कर रक्खी है उसको दूर कर देना चाहिये। लेकिन संसार में रहते हुये इन शुभ कामों को बंद नहीं करना चाहिये अन्यथा संसार में रहकर दुःख उठाना पड़ेगा।

सारांश यह है कि इन शुभ कार्यों को करते हुये सम्यक्दर्शन प्राप्ति का प्रयत्न करते जाओ। जहां सम्यकदर्शन की प्राप्ति करली, वहीं तुम्हारा मोक्षमार्ग भी बन गया। तात्पर्य यह है कि आत्म ज्ञानी बनकर शुभ क्रिया करेगा तो संसार सुख भी बनेगा और परम्परा से मोक्ष प्राप्त हो जावेगा। अगर बिना आत्मज्ञान करने से संसार में किंचित् सुख मिलेगा—यानी सुख नहीं वह सुखाभास है।

सम्यग्दृष्टी की भावना

सुख में नहिं जे नर हर्ष धरें, दुःख में न विषाद करें मन में।
धन पाकर जे न गुमान करें, नहिं दीन बनें अधनीपन में॥

तज वैर विरोध प्रमोद धरें, लघुता-गुरुता न गिनें मनमें।
धनि जीवन है उन जीवन का, समभाव धरें जग जीवन मैं ॥१॥
जब तन निज आतमरूप लखो, तबतैं नहिं रही द्विविधा मनमें।
अति शीतल चित्त पवित्र भयो, सब मोह ममत्व नसो तन में ॥
धन धाम कुटुम्ब सभी तजके, निवसू गिरि कंदर कानन में।
पद्मासन बैठि नदी तट-स्वातमराम जपू इस जीवन में ॥२॥
तजि के गृहवास उदास रहूँ, न फसू कबहू भवमथन में।
निज आतमज्योति विकास करूं, भटकूं नहिं फेर कुपथन में॥
धरि जोग तजू भवभाग बुरे तन नग्न निमग्न रहूँ बन में।
हनि मक्खन कर्म लहू शिवशर्म, बनू सफली नर जीवन में ॥३॥

सम्यक्त्व की महिमा

प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षढ नारी ।
थावर विकलत्रय पशु में नहि, उपजत सम्यक्धारी ॥
तीन लोक तिहुकाल माहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धर्म का मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी ॥१॥

अर्थ—देखिये, सम्यक्त की कितनी अपूर्व महिमा है। अगर [illegible]व में नरकायु का बंध कर लिया हो और पीछे सम्यक्त पैदा [illegible]ो तो पहिले नरक से नीचे नहीं जाता है अगर पहिले तिर्यंचआयु [illegible] बंध कर लिया हो और पीछे सम्यक्त प्राप्त किया हो तो भोग [illegible]मि का तिर्यंच होगा, अगर पहिले मनुष्यआयु का बंध कर लिया [illegible]ो और पीछे सम्यक्त पैदा हुआ हो, तो भोगभूमि

होगा, अगर तीनों में से एक का भी बंध न किया हो तो नियम से स्वर्ग जायगा। नीचकुल में, अल्पायु, नपुंसक भवनत्रिक देवों में जन्म नहीं होता, तीनलोक, तीनकाल में इस जीव को सम्यक्दर्शन ही सुखकारी है। सम्पूर्ण धर्म की जड़ एक—सम्यक दर्शन ही है। मोक्षरूपी महल की पहिली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान चारित्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते, यानी बिना सम्यक दर्शन के ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, चारित्र सम्यकचारित्र नहीं बनता है। इसलिये हे आत्माराम यह मनुष्यभव, श्रावककुल, निरोग शरीर, जैनधर्म पाकर के इसको व्यर्थ मत खो। यह सब बातें फिर मिलना बहुत दुर्लभ हैं। इसलिये मोक्षाभिलाषियों को सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की अति आवश्यकता है।

सम्यक्त्व के भेद—

क्षय उपशम करते त्रिविध, वेदक चार प्रकार।
क्षायिक उपशम जुगल युत, नवधा समकित धार॥

अर्थ—क्षयोपक्षम तीन प्रकार का, वेदक चार प्रकार का क्षायिक, उपशम इसतरह सम्यक्त्व के ९ भेद होते हैं।

क्षयोपशम सम्यक्त के ३ भेद—

चार खिपहि त्रि उपशमहि, पन क्षय उपशम दोय।
छै षट् उपशम एक यों, क्षय उपशम त्रिक होय॥

अर्थ—चार का उदयाभावी क्षय, तीन का उपशम, पाँच का उदयाभावी क्षय, दो का उपशम, छह का उदयाभावी क्षय, एक उपशम, इस प्रकार क्षयोपक्षम सम्यक्त के तीन भेद होते हैं।

वेदक सम्यक्त्व के चार भेद—

जहां चार प्रकृति खिपें, द्वै उपशम एक वेद ।
क्षय उपशम वेदक दशा, तासु प्रथम यह भेद ॥
पच खिपै इक उपशम, इक वेदे जिहिं ठौर ।
सो छह उपशम वेद की, दशा द्वितीय यह और ॥
षय षट् वेदे एक जो, क्षायक वेदक सोय ।
षट् उपशम इक प्रकृति विद, उपशम वेदक होय ॥

अर्थ—चार का उदयाभावी क्षय, दो का उपशम, एक का उदय, यह प्रथम भेद है । पाँच का उदयाभावी क्षय एक का उपशम, एक का उदय यह दूसरा भेद है । छह का उदयाभावी क्षय, एक का उदय यह क्षायिकवेदक तीसरा भेद है । छह का उपशम, एक का उदय यह उपशमवेदक चौथा भेद है ।

क्षायिक उपशम क्षयोपशम का भेद—

अनन्तानुबन्धी कषाय की ४, दर्शन मोहनीय की ३ इन सात प्रकृति का सर्वथा क्षय हो जाने को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं ।

उपशम के भेद—

इन ही सात प्रकृतियों के उपशम हो जाने को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं ।

क्षयोपशम का भेद—

इन ही सातों में कुछ सर्वघाती का उदयाभावी क्षय, कुछ का उपशम होने को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं ।

वेदक सम्यक्त्व का भेद

इन ही सातों में कुछ सर्वघाती का उदय इसी को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशम, क्षयोपशम भावों की अस्थिरता—

(सवैया)

जेते जीव पण्डित क्षयोपशमी उपशमी तिनकी अवस्था ज्यों लुहार की सडासी है। छिन अग्नि माहि छिन पानी माहि तैसे यहू छिन में मिथ्यात्व छिन ज्ञानकला भासी है॥ जोलों ज्ञान रहे तोलों शिथिल चरन मोह, जैसे कीले नाग की सकति गति नासी है। आवत मिथ्यात्व तब नाना रूप बंध करै, ज्यों उकीले नाग की सकति परकासी है॥

जब तक उपशम क्षयोपशम होता है तभी कुछ सम्यक्त्व की कला जाग जाती है। जहाँ उदय आया वहीं मिथ्यात्व कला प्रगट हो जाती है। जैसे नाग को कील दिया जाता है जब तक उसका समय है तब तक शक्तिहीन रहता है। जहाँ उसका समय पूर्ण हुआ सो ही शक्तिवान् हो जाता है। यही दशा उपशम क्षयोपशम की जानना।

सम्यक्ज्ञान का लक्षण

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥१॥

अर्थ—जो न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता के बिना संदेह रहित, जैसा का तैसा जाने वह सम्यक् ज्ञान है।

ऐसा आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यकज्ञान का लक्षण कहते हैं। न्यूनाधिकता रहित से भाव अनध्यवसाय रहित का है। विपरीतता के बिना का भाव विपर्यय रहित है, सन्देह रहित का भाव संशय रहित से है। याथातथ्य का भाव सम्यक्ता से है यही सम्यक्ज्ञान का लक्षण है।

सम्यक् दर्शन होने पर जो ज्ञान होता है उसी को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। चाहे कितना ही शास्त्रज्ञानी हो जाय लेकिन बिना सम्यक्दर्शन के उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। सम्यक् ज्ञान नहीं बनता देखिए अभव्य को दशअङ्ग, नौपूर्व का शास्त्र ज्ञान हो जाता है, फिर भी संसार में भटकता है। तीन काल में भी उसको सम्यक्त्व नहीं होता।

प्रश्न—जब आपने यह कहा कि अभव्य को दशअंग, नौ पूर्व का शास्त्र ज्ञान हो जाता है। फिर भी तीन काल में सम्यक दर्शन नहीं होता तब शास्त्र ज्ञान करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, जब तक सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति न होवे, तब तक शास्त्राभ्यास करने की आवश्यकता है। लेकिन इस मान्यता को हटा देना कि शास्त्र ज्ञान से ही मोक्ष हो जावेगी। मोक्ष तो बिना सम्यक्ज्ञान के तीनकाल में भी नहीं हो सकती, ऐसा ही भगवान का वचन है। इसलिए शास्त्राभ्यास करके सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यता है। देखिए कविवर दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है—

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥

बिना ज्ञान के करोड़ों वर्ष तक तप करने पर भी कर्मों को

नहीं जला सकता ज्ञानी एक क्षण में ही जला डालता है। इसलिए सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है।

सम्यक्ज्ञान की महिमा

सकल द्रव्य के गुण अनंत पर्याय अनंता,
जानें एकै काल प्रकट केवलि भगवंता।
ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
यह परमामृत जन्म जरा मृतुरोग निवारन ॥

अर्थ—सम्यक ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है जो सम्पूर्ण पदार्थों के गुण पर्याय को एक समय में जानते हैं इसके समान जगत में और कोई सुख का कारण नहीं है। यह जन्म, जरा, मृत्युरूप रोग के नाश करने को परम अमृत है, जितने भी मोक्ष में पहुँच गए और जा रहे हैं और जायेंगे, वे सब सम्यक ज्ञान प्राप्त करके ही गए हैं। बिना सम्यक ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई गया हो तो बताओ इसलिए मोक्षाभिलाषियों को सम्यक ज्ञान प्राप्त करने की अतीव आवश्यकता है।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

हिंसाऽनृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥

अर्थ—अहिंसा, झूठ चोरी मैथुन करना व परिग्रह इन पाँच पापों की प्रणालियों से रहित होना सो सम्यक ज्ञानी का चारित्र है। सम्यक ज्ञान होने पर ही सम्यक चारित्र होता है।

इसके बिना जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र है। उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। देखिए—

> मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयिक उपजायौ।
> पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायौ॥

अर्थ—एक ही जीव ने अनंतबार मुनिव्रत धारण किया नवग्रैवेयिक में अहमिंद्र हो गया, लेकिन बिना आत्मज्ञान के संसार में ही भटकता है, मोक्ष नहीं पाता। अगर उसके समस्त भवों के पीछी कमंडलु इकट्ठे किए जाय तो एक पहाड़ बन जाय। फिर भी संसार में भटकता है। इसलिए सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर ही मुनिव्रत या ऐलक क्षुल्लकव्रत धारण करना कार्यकारी है। वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसके बिना तो संसार का ही साधक है, मोक्ष का साधक नहीं, इसलिए मोक्षाभिलाषियों को सम्यक्चारित्र ग्रहण करने की अति आवश्यकता है।

प्रश्न—आपने कहा कि सम्यक्ज्ञान होने पर ही सम्यक्चारित्र है नहीं तो मिथ्याचारित्र है, तो फिर नियम प्रतिज्ञा व्रत उपवास करना सब व्यर्थ है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं। उपयोग तीन प्रकार का है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग। जब तक तुझे शुद्धोपयोग में जाने की सामर्थ्य नहीं है, तब तक यह सब काम करने की आवश्यकता है। इससे पुण्यबंध होता है। इससे संसारी सुख मिलता है। यह नहीं करने से संसार में दुःख उठाना पड़ेगा। इसलिए जब तक संसार में रहना है तब तक शुभोपयोग का काम करना ही चाहिए। यह काम करने से ही मोक्ष प्राप्ति हो

जायगी ऐसा मान लेना सोलह आना भूल है। पुण्य से कभी मोक्ष नहीं मिलता।

सम्यक्दृष्टि के पुण्य में और मिथ्यादृष्टि के पुण्य में अंतर देखिए। सम्यक्दृष्टि के पुण्य की महिमा कितनी अचिंत्य है, इसका पुण्य मोक्ष का साधक बन जाता है। मिथ्यादृष्टि चाहे जितना पुण्य करे वह संसार का ही साधक होता है, मोक्ष का साधक नहीं बनता। सबसे बड़ा पुण्यप्रकृति तीर्थंकर का है सो सम्यग्दृष्टि ही बांधता है। और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि बनकर कितना पुण्य उपार्जन कर लेता है, उसके द्वारा नवग्रैवेयिक में अहमिन्द्र हो जाता है। लेकिन मोक्ष नहीं पाता, संसार में ही भटकता है। इसका तात्पर्य यही है कि सम्यक्दृष्टि की क्रियायें मोक्ष की साधक हैं और मिथ्यादृष्टि की क्रियायें संसार का ही साधक हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को सम्यक्दर्शन प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इसके सिवाय और कोई दूसरा आत्मकल्याण का मार्ग नहीं। सच्चा मार्ग यही है।

सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का सरल उपाय

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

अर्थ—सब ही लोगों को काम भोग विषयक बंध की कथा तो सुनने में आ गई है परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आई हुई है इसलिए सुलभ है। लेकिन केवल भिन्न आत्मा के एकत्व की प्राप्ति न कभी सुना, न परिचय में आई और न अनुभव में आई है, इसलिए यही एक सुलभ नहीं है।

इस जीव के अनादिकाल से कर्मों का सम्बन्ध लगा चला आ रहा है। जब से जीव तब से कर्म और जब से कर्म तब से जीव है। आगे पीछे कोई नहीं। दोनों का साथ चला आ रहा है। जैसे सुवर्ण खदान के अन्दर पाषाण में मिला पड़ा है। सो जबसे सोना तबसे पाषाण और जबसे पाषाण तबसे सोना है, दोनों में किसको आगे पीछे कह सकते हो? नहीं कह सकते। इसी प्रकार जीव कर्मों का भी अनादि सम्बन्ध है। इनही कर्मों के सम्बन्ध के कारण यह जीव संसार में भटक रहा है। जब कर्मों का उदय आता है तभी उसका फल मिलने के समय पर पदार्थ में निमित्त का आरोप होता है। उस निमित्त को ही कार्य का स्वामी बना करके राग द्वेष मोह कर बैठता है। पहिले के कर्म झरते हैं और नवीन कर्मों का संचय कर लेता है। यही व्योपार अनादिकाल से करता चला आ रहा है। इसी कारणवश संसार में भटक रहा है। हे आत्माराम! तुम अपने निजी धन को भूल रहे हो, परवस्तु को अपना रहे हो। यही अज्ञानता छाई हुई है। जब तक यह अज्ञानता नहीं हटाओगे तब तक कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकोगे। यह अज्ञानता का कराने वाला मिथ्यात्व है। राग द्वेष मोह इन तीन के साथ व्योपार करना यही मिथ्यात्व है। इसी को अज्ञानता कहते हैं। इन तीनों को छोड़ करके व्योपार करना यही सम्यक्त्व है। इसी को ज्ञाना कहते हैं।

रागद्वेष की परिभाषा

संसार में जितने भी पदार्थ हैं सभी अपने स्वभाव को लिए हुए हैं। न कोई इष्ट है न अनिष्ट है। लेकिन हे आत्माराम! तू अज्ञानता से इनमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना कर बैठता है।

जो पदार्थ तेरे अनुकूल पड़ता है तथा सुखदाई होता है उसी में राग यानी प्रेम करता है। जो पदार्थ तेरे प्रतिकूल पड़ता है यानी दुःखदाई होता है उसी से द्वेष यानी घृणा करता है। और हे आत्माराम! तुम ज्ञान दर्शन चैतन्य की मूर्ति हो, यानी निराले हो, फिर तुम परवस्तु जो तुम्हारी चीज नहीं है, उसी को अपनाते हो, उससे मोह ममता करते हो, सो हे आत्माराम! ऐसा व्यापार क्यों करते चले आ रहे हो? चौरासी लाख योनियों में भटकते भटकते अनन्तकाल हो गया। अभी आपका दिल नहीं भरा। हे आत्माराम! इस मोह नींद से जागो, सचेत हो, जो तुम्हारी निधि है उसी की सम्हाल करो। परवस्तु से मोह ममता हटाओ। इसी का नाम सम्यकदर्शन है। और वह, सम्यकदर्शन बाजार में मोल नहीं बिकता। जो पैसा के बल पर खरीद ला सकोगे। तीर्थस्थानों में नहीं रक्खा जो वहां से उठा लाओ। मन्दिरों में भगवान के पास नहीं रक्खा जो तुमको भगवान उठाकर दे देंगे। हे आत्माराम वह तो तेरे ही पास है। आत्मा की निजी स्वाभाविक चीज है। जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है किन्तु वह उसका सुगन्ध पाकर वन में दौड़ा फिरता है दौड़ते दौड़ते मर जाता है, उसे पता नहीं चलता कि यह खुशबू कहां से आ रही है। इसीप्रकार हे आत्माराम! अज्ञानता के वश तुम भी हिरण की तरह बन रहे हो। अब इस अज्ञानता को हटाओ। अपनी चीज अपने में खोजो तो जरूर आपको मिल जायगी।

अब इसका सारांश यह है कि जो पर-पदार्थ की तरफ दृष्टि कर रक्खी है उसको हटाने की चेष्टा करो और दूसरी बात जो निमित्त से कार्य होने की दृष्टि कर रक्खी है उसको वहां से हटाओ। इन्हीं दोनों के कारण सारा विभाव परिणति का व्यापार होता है। इसलिये उधर से दृष्टि घुमाकर अपनी आत्मा

की तरफ दृष्टि डालकर रखना। यही स्वभाव परिणति है, इसीका नाम सम्यग्दर्शन है। भाई आत्माराम! सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो और अनुभवपद को स्पष्ट बनाओ। यही सच्चा पुरुषार्थ है। बहुत से लोगों ने यह सिद्धान्त बना रक्खा है, काललब्धि होनहार को पकड़कर पुरुषार्थहीन हो रहे हैं। यह उनकी नासमझ भारी भूल है। जिस समय कार्य हो वह तो काललब्धि और कार्य का होना होनहार इन दोनों बातों का अपने को पता नहीं कि किस समय कार्य होगा। इसलिए हर समय सम्यक् पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। यही भगवान का वचन है।

आत्मबोध प्राप्त करने का उपाय

संसार के समस्त प्राणी सुख के इच्छुक हैं और दुःख की निवृत्ति चाहते हैं। अनादि से सदा से यत्न करते आये हैं। और आज भी प्रयत्न कर रहे हैं। तथा कहीं अभी तक अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। तथा हारने पर भी अभी तक हमारा इस बात पर ध्यान नहीं गया, कि हमारे प्रयत्न की दिशा ही तो गलत नहीं है। आज हमें इस पर विचार करना चाहिए। जो जीव सुख या शान्ति चाहता है उसने पहिले अपने को अपना स्वयं का परिचय स्वयं को प्राप्त करना चाहिए। अभी तक प्राप्त हुए शरीर में जो आत्मबुद्धि हो रही है वह आत्मा का सही परिचय नहीं है। इससे यह भी सिद्ध है, कि शरीर के बाहरी दृष्टि से जो प्रयत्न सुख प्राप्ति के हेतु था हो रहे हैं, वा होंगे उनसे सुख शान्ति न मिली है और न मिलेगी। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मैं क्या हूँ? कौन हूँ? क्या मेरा परिचय है और मुझे अपना सच्चा सही परिज्ञान कैसे हो सकता है?

है कि मैं आत्मा हूँ देह नहीं हूँ, देह से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ हूं। भले ही देह में स्थित हू देह का जन्म है, देह की मृत्यु है, आत्मा अजन्मा है। अत उसकी मृत्यु नहीं। यह शाश्वतिक है। देह जड़ है। ज्ञान का बाह्य साधनभूत इन्द्रियाँ भी स्वय जड़ चैतन्य विहीन है। मृत्यु के बाद यह सब बातें प्रत्यक्षीभूत हो जाती हैं। अतः इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता आत्मा सचेतन है चैतन्य स्वभाव है ज्ञान स्वभाव रूप से परिणत होने पर वह आनन्द रूप है। वह सुख दुःख का अनुभव ज्ञान के आधार पर करता है। ज्ञान स्वय सुख व दुःखरूप नहीं है किन्तु उन दोनों का वेत्ता है। तब प्रश्न होता है कि सुख दुः क्या है ? कैसे होते हैं ? कैसे इन दोनों के विकल्प छूटकर सच्चे सुख की प्राप्ति होगी ?

अभी तक मानते आ रहे हैं कि इष्ट पदार्थ की प्राप्ति सुख है, अनिष्ट की प्राप्ति में दुःख है। इष्ट का सयोग सुखकार माना है और अनिष्ट का सयोग दुःखकारक है। इष्ट का वियोग स्वय दुःख अनिष्ट का वियोग स्वय सुख है। जीवन में सयोग वियोगों का जो प्रयत्न चला [illegible] मिलत है कभी असफलता भी [illegible]
में अपना रागभाव उसे इष्ट [illegible]
कोटि में पहुँचा देता है। [illegible]
संयोग की भावना मूलत [illegible]
वस्तु परवस्तु है, यह निज [illegible]
है यही भूल है। यही भूल [illegible]
हो रहे हैं। अब सांसारिक सु[illegible]
की प्राप्ति के लिये यह [illegible]

पर को इष्ट अनिष्ट मानना ही भूल है। मेरे दुःख का निदान मेरी भूल है। भूल दूर होने से दुःख दूर हो सकता है। सारांश यह है कि समस्त परपदार्थों में एकत्व बुद्धि का त्याग कर राग द्वेष मोह का निवृत्तिरूप साम्यत्व का दृष्टि आवे तो विषमता दूर हो। ममत्व भाव जाने पर रागद्वेष मोह जो आत्मा के विकार हैं वे दूर हो जाते हैं। वस्तुतः यह विकार ही दुःख के हेतु हैं।

यदि आत्मा निज चैतन्य चिदानन्द स्वरूपको पहिचाने, उसका अनुभव करे, परावलम्ब न छोड़े तो यथार्थ में वह दुःख से निवृत्त होकर सुखी बन सकता है। पर में कर्तृत्व का अहंकार जब तक मिटता नहीं तब तक दुख भी नहीं मिटता है। यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों के स्थान पर मान लें तो यह कहना होगा कि सुवर्ण आभूषणों में सदा व्यापक रहेगा और वे आभूषण उस सुवर्ण को व्याप्त कर रहे हैं। बिना स्वर्ण के निराधार आभूषण नहीं बन सकते और बिना आभूषण आदि रूप विविध आकारों के निराकार स्वर्ण नहीं रह सकता। यही बात जीवादि द्रव्य और पर्यायों में लागू होता है। बिना जीव के नर नारकादि पर्यायें नहीं होंगी और न नर-नारकादि सांसारिक तथा सिद्धस्वरूप शुद्ध पर्याय से रहित अपर्यायरूप जीव होगा यह सिद्धांतकथन है।

यह भी सिद्धांत है कि कोई भी द्रव्य अपनी परणति के सिवाय अन्य द्रव्य की परिणतिरूप त्रिकाल में नहीं परणमती है। उसका कर्ता नहीं होता। इस मूल सिद्धान्त पर यदि प्राणी की श्रद्धा हो जाय और तदनुकूल आचरण हो जाय तो दुःख से छुटकारा मिल सकता है। मेरा तन मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरी सम्पत्ति आदि पर-पदार्थों में जो एकत्व और ममत्व रूप परिणाम है वही मूलतः भूल है। तन और घर तथा संपत्ति

जड़ पदार्थ पुद्गल द्रव्य के रूपान्तर हैं तथा पुत्र पत्नी आदि की आत्मायें मुझसे भिन्न हैं, दूसरी २ आत्मायें हैं। जो मुझसे पृथक अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं। वे स्वतन्त्र सत्ता वाले जड़ और चेतन द्रव्य अपने परिणाम रूप स्वयं परिणत होते हैं। जड़ चेतन रूप नहीं परिणमता और न चेतन जड़रूप परिणमता है। इस सत्य पर लक्ष्य न होने के कारण संसारी अज्ञानी प्राणी यह चाहता है कि तन धन पुत्रादि पदार्थ मेरी इच्छानुसार ही परिणमन करें। चूंकि मैं इनका स्वामी हूँ, अतः इनको मेरी रुचि के अनुसार चलना परिणमना चाहिये। मैं इनको चलाकर रहूंगा। प्रयत्न भी ऐसा ही करता है और रात दिन इसी चिन्ता में लगा रहता है, किन्तु जब ये अपने २ स्वभाव के अनुसार अपने २ परिणामरूप परिणमते हैं, हमारी इच्छा के अनुसार नहीं परिणमते तब हमारे अहंकार को धक्का लगता है और हम दुःखी बन जाते हैं।

यदि हमने उस सनातन सत्य का आश्रय लिया होता जिसे हम पूर्व में लिख आये हैं तो परके कर्तृत्व का भ्रम मिट जाता और उस भ्रम के मिटने पर अहंकार भी मिट जाता और तब जो अहंकार के चूर होने का दुःख होता था वह भी क्षण भर में नष्ट हो जाता। मैं सामान्य गृहस्थ की बात करता हूँ कि वह सचमुच संसार में रहकर भी दुःख से बचना चाहता है और सुख चाहता है तो उसे भगवान जिनेन्द्र के इस वचन पर श्रद्धा करना चाहिए कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य की पर्यायों का कर्ता नहीं है। सारांश यह है कि जीव यथार्थ में पुद्गलादि पदार्थों का ज्ञाता होने पर भी इन द्रव्यों का या इनके परिणमना का कर्ता नहीं है। यद्यपि लोक में ऐसा व्यवहार होता है कि यह मेरा तन है, यह मेरा पुत्र है, इस

मकान का निर्माता मैं हूं। सो यह व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, यथार्थ नहीं, केवल परणति के साथ अर्थात् गृहनिर्माण आदि में उनके साथ इस जीव के राग और योग का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। पर यह जीव यथार्थ में उसका कर्त्ता नहीं। यदि इस सिद्धांत का सही ज्ञान श्रद्धान हो जाय और इसका आचरण भी इसी प्रकार हो जाय तो इसका दुःख मिट सकता है।

पर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट की मान्यता का मूल हेतु यह भी है कि यह जीव पर का अपने लाभालाभ का कर्त्ता मानता है। यदि ऐसा न मान कर उन्हें निमित्त मात्र समझे तो फिर उनमें इष्टानिष्ट कल्पना मिट जाय। और साम्यत्व भाव ही जीवन में आ जाय। समता मात्र सुख का मूल है और विसमता दुःख की जड़ है। घर में दश प्राणी हैं, यदि खानपान में सुख दुख की चिंता में सबके साथ समान व्यवहार हो तो गृहस्थ का घर व्यवहार से सुखी बन जाय। इसके विपरीत जब गृहस्थ का व्यवहार इस प्रकार का हो जाता है कि वह मोह के कारण अपने पुत्र और पत्नी के साथ सुख सुविधा की चिन्ता अधिक करता है और अपने भाई भावज, उनके पुत्र की कम करता है तो यही विसमता उसके घर में कलह का बीज बो देती है यह। व्यवहार की बात है। परमार्थ का तो कहना ही क्या है! जैनाचार्य तो प्राणी मात्र में समता का आदर्श देते हैं। यदि हम इसका अल्प परिमाण में सीमित क्षेत्र में भी प्रयोग करके देखें तो हम उस क्षेत्र में सुख की सृष्टि करेंगे और दुःख के काँटे स्वयं उखड़ जायेंगे।

विषमता अर्थात् राग द्वेष मोह परिणाम आत्मा के विकार सदा से ये ही दुःख के कारण रहे हैं। अपनी इन अनादिकालीन

भूल को हम समझ लें, उस पर अपना विश्वास ले आवें और इस शिक्षा पर चलें तो हम सुखी हो सकते हैं। शाश्वतिक सुख का यही मार्ग है। पर में इष्ट अनिष्ट कल्पना का निवृत्ति होते ही उनके सयोग या वियोग में सुख दुख की कल्पना भी दूर हो जायगी। वस्तुतः पर की प्राप्ति में सुख भावना ही भूल है और पर को दुखकारक मानना भी उतनी ही बड़ी भूल है। भूल का परिमार्जन ही सुख का मार्ग है। आत्मा जैसे ही अपने ज्ञानानद चैतन्य स्वरूप को स्व जानता है वैसे वह पर को पर समझ लेता है। यह आत्मस्वभाव की श्रद्धा ही निश्चयत सम्यक् दर्शन है और उसे सप्त तत्त्व रूप देखना तो विकल्प का फल है। यथार्थ रूप से सप्ततत्त्व की श्रद्धा का अर्थ ही भेद से हट कर निर्विकल्प आत्मतत्त्व का यथार्थ श्रद्धा है। यही सम्यक् दर्शन है। सदा से आत्मा अपने स्वरूप की अजानकारी से ही पर के पीछे पड़ा भटकता है। वहां ही सुख की प्राप्ति तथा दुख दूर करने के साधनों की खोज करता रहता है। जब उसे आत्म ज्ञान होगा तब उसकी भूल मिट जायगी और सुख का सही रास्ता मिल जायगा। सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न की दिशा सही बन जायगी। इसलिए जिन भगवान वीतरागी प्रभु का हम उपासना करते हैं वे ही हमारे आदर्श हों तो दुख दूर हो। हम उनके जितने निकट होंगे सुखी होंगे और जितना अपने को दूर रक्खेंगे उतने ही सुख से दूर होंगे।

क्या सम्यक्दर्शन पुरुषार्थसाध्य है ?

सम्यक्दर्शन की मोक्षमार्ग में अचिन्त्य महिमा है। सुनकर सभी बन्धु सम्यक्दृष्टि बनने को लालायित रहते हैं। किन्तु कहा जाता है कि सम्यक्दर्शन उसी को प्राप्त होगा जिसका निकट

ससार रह गया हो। जिसका अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन काल रह गया हो और जो सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त हो। निसर्गज सम्यक्दर्शन भी तभी होता है, जब पूर्व भव में गुरु उपदेश का जिसे निमित्त मिला हो। उसी पूर्व सस्कार से जाति स्मरणादि से सम्यक्दर्शन हो जाता है। इसमें भी परम्परा गुरु उपदेश का निमित्त साधन है। इन सब साधनों को देखते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति के साधन हमारे आधीन नहीं हैं। उसको प्राप्त करना भी हमारे स्वाधीन नहीं है। किन्तु पराधीन है। क्योंकि अर्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रह जायगा, तब उच्च गति एव गुरु के उपदेश का निमित्त मिलेगा तभी तो प्राप्त होगा, फिर हमारा इसमें पुरुषार्थ क्या कर सकता है? ऐसा प्रश्न आचार्य अमृतचन्द्र जी के समीप भी आया था। उसका उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने लिखा कि—

> विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
> स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
> हृदयसरसि पुसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
> ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि ॥१॥

अर्थ—हे भाई! व्यर्थ कोलाहल क्यों करता है? तू बाहर की उछल कूद छोड़कर लगातार छह माह तक अपने आप में उसे पाने का प्रयत्न कर तो वह अवश्य प्राप्त हो सकता है। इसीलिए फिर आचार्यश्री कहते हैं कि—

> 'कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्'

अर्थ—मर कर भी तू तत्त्वजिज्ञासु बन। इस

आचार्य श्री ने छह महिना का अवधि रखकर यह सिद्ध किया है कि सम्यक्‌दर्शन पुरुषार्थसाध्य है, दैवसाध्य नहीं। जिस समय यह जीव आत्मा की ओर झुकता है उसी समय यह बाह्य साधन अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति में यह पांच बातें एक साथ होती हैं। अर्थात् जब जीव अपने ज्ञायक स्वभाव के सन्मुख होकर पुरुषार्थ करता है तब काललब्धि भवितव्यता और कर्मों का उपशम क्षय क्षयोपशम स्वत हो हो जाता है।

नाटक समयसार में इन पांचों को सर्वाङ्गी माना है। अर्थात् ये सब एक साथ होते हैं। इनमें से काललब्धि कोई पदार्थ नहीं है। जिस समय कार्य सिद्ध होता है, उसे काललब्धि कहते हैं। इसमें जो ऐसा मानते हैं कि भवितव्यता तो यह बतलाती है कि जब कार्य होना होगा तब हो जावेगा। ऐसी मान्यता उनकी मिथ्या है क्योंकि उसने पांचों समवायों को एक साथ नहीं माना अकेली भवितव्यता को ही मान रहा है। जब ज्ञायक स्वभाव के सन्मुख होकर जीव पुरुषार्थ की ओर झुकता है उसका संसार निकट हो रह जाता है। ये ५ समवाय इस प्रकार हैं—स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्यता और निमित्त भूत कर्मों का उपशमादि। इनका क्रम भी इसी प्रकार है। यदि क्रम बदल देंगे तो मान्यता मिथ्या हो जायगी। कर्मों का उपशमादि भी अपने आत्मपुरुषार्थ के निमित्त से होता है। अपने आप कर्म कृपा नहीं करते। इन पाँच समवायों में जीव पुरुषार्थ ही कर सकता है। बाकी ४ समवाय तो स्वत होते हैं। स्वभाव है तो सम्यक्‌दर्शन प्राप्त होगा। बाकी तीन में हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं। वे आत्मपुरुषार्थ का निमित्त पाकर स्वत होते हैं। इसलिए हमें आत्मपुरुषार्थ करना चाहिए। कहा भी है—

सकल पदार्थों को जानने वाला है। अत आत्मा की सच्ची श्रद्धा, उसका भली भाँति ज्ञान एवं तदनुकूल आचरण मोक्ष का कारण है।

गृहस्थ अगर निर्मोही है तो मोही मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है और बात यह है कि इस ज्ञान में मोह के अभाव का, अपना ज्ञान दुनियाँ में न जाओ पर उसको अपना चाहे समझो। पतंग को आकाश में पाँच सौ हाथ ऊपर चढ़ा देते हैं, लेकिन डोरी हाथ में रखते हैं। घोड़े की लगाम हाथ में रहती है तो वह कभी नहीं भाग सकता अपने आधीन रहता है। अत सब कार्य करो किन्तु आत्मा का रक्षण करो। दुनियाँ को जानो लेकिन आत्मा को न भूल जाओ। त्याग करना कोई बुरा नहीं बढ़िया बात है। एक त्यागी ऐसा होता है जो प्रवृत्तिपरक होता है और दूसरा निवृत्तिपरक। निवृत्तिपरक ही चारित्र है। महाव्रती मुनियों के भी प्रवृत्ति होती है। छट्टे गुणस्थान में शास्त्र का पठन पाठन, आहार विहारादि क्रियायें होती हैं। इसमें देखा जाय तो संज्वलन कषाय का उदय ही काम करता है। जब यह कषाय भी पूर्णतया अन्तर्गत हो जाती है तो ज्ञान ज्ञानरूप रह जाता है। ज्ञान तो पहिले भी था किन्तु मिश्रित होने से बन्ध करता था। यहाँ पर समझने की चीज यह है कि ज्ञान चौपट नहीं करता

लोग कहते हैं कि यह तो बड़ा लोभी है। भाई! उसमें मनुष्य बुरा नहीं वह लोभ बुरा है। लोभ के संसर्ग से वही मनुष्य बुरा बन जाता है। करे काम कोई, उसमें जो मुखिया होता है वही पिटता है। अत एक द्रव्य स्वभाव का आश्रय लो एक अच्छी से अच्छी श्वेत मलमल रंगरेज के यहाँ डालते हो तो उसकी सब स्वच्छता बिगड़ जाती है। इसी तरह जीव का सम्यक्त्व स्वभाव मिथ्या मल से नष्ट हो जाता है। सबमें बुरी चीज तो ये राग है। यह जीव दूसरे के विकल्प अपने हृदय में

छ देता है। अपने स्वरूप को नहीं देखता है। जब निजस्वरूप की पहिचान होती है तब अन्य पदार्थों से सुतरां अनुराग घट जाता है। प० बल्देवदास जी एक बात कहते थे कि—मुनि अपने पास वस्त्र क्यों नहीं रखते? यह इसलिए कि उस जाति की कषाय उनके पास नहीं है। तो अब इन वस्त्रों को सम्हाले कौन? मोह का अंश निकल जाता है वहां चारित्र प्रगट हो जाता है।

अब देखिए, आप कषाय भी जो इन पर करते हो तो उससे उनका क्या बिगड़ जाता है। सच पूछो तो पर का बुरा होना यह तो उसके कमाधान है। इन कषायों से प्रथम अपनी आत्मा का ही घात कर डालते हैं। कषायगुक्त होने से इस जीव को भले बुरे हित अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। अंधा होकर अपनी आत्मा का ही अहित करके संसार में परिभ्रमण करके दुःख उठाता है। कहना यही है कि इन कषायों को छोड़ो और अपनी आत्मा का कल्याण करो। यही मनुष्य जन्म पाने की सफलता है।

अपनी भूल—इस पंचमकाल में बहुत से लोगों ने ऐसा सिद्धांत बना रक्खा है कि पंचमकाल में मोक्ष तो होता नहीं फिर किस लिए परिश्रम उठावें। सो इन लोगों की बड़ी भारी भूल है। इस भूल में पड़कर स्वच्छाचारी बनकर प्रवर्तन करने लग गए हैं। शुभोपयोग का कार्य भी बन्द कर बैठे हैं, सो देखो योगसार पाहुड में लिखा है—

जीव मय तईमा पंचमकाल य मदपरिणामा।
उप्पाइयु निद्दहे नरमइ वरसे दु केवली होदि॥

—योगसार पाहुड।

अर्थ—इस पचमकाल में इस भरतक्षेत्र में भद्रपरिणामी पुण्यात्मा कहीं स आकर उत्पन्न होंगे, और उनकी शक्ति के अनुसार धम साधन कर अपनी आत्मा को स्वल्प कर्मी बनाकर मनुष्यायु के निमित्त से एक सौ तेईस जीव महाविदेह क्षेत्र में जाकर जन्म लेकर नव वर्ष व अदर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

इनका खुलासा इस प्रकार से है—पचमकाल की मयादा २१००० हजार वर्ष की है। आचार्यों ने इसके सात भेद बतलाये हैं। प्रत्येक भाग तीन तीन हजार वष का है। इसका खुलासा इस प्रकार है-पहिला भाग में तीन हजार वष में ६४ भद्रपरिणामी केवलज्ञान प्राप्त करगे। दूसरे भाग के ३००० वर्ष में ३२ जीव, तीसरे भाग के ३००० वष में १२ जीव, चौथे भाग के ३००० वष में ८ जीव, पाचमें भाग के ३००० वष में ४ जीव, छट्टे भाग के ३००० वष में २ जीव, सातमें भाग के ३ ०० वष मे १ जीव केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। इस प्रकार इस पचमकाल के २१००० वर्षों में इस भरत क्षेत्र के जन्मे हुए जीव क्रम से विदेह क्षेत्र में जाकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग मनुष्यपर्याय में जो भद्रता रक्खेंगे वो सदा सुखी होंगे।

यह जाव ससार में त्रस पर्याय में दो हजार सागर तक रहता है। विशेष नहीं रहता। इसमें इसको मनुष्य की ४८ पर्याय ही मिलती हैं, ज्यादा नहीं मिलती। जिसमें १६ तो पुरुष पर्याय १६ स्त्रीपर्याय १६ नपुसकपर्याय मिलती हैं। जिसमें ८ पर्याप्त ८ अपर्याप्त की मिलती हैं। सो हमें यह मालूम नहीं कि हमारी कौनसी पर्याय है। अगर आखरी पर्याय हुई तो अब मनुष्य पर्याय मिल नहीं सकती। और ससार म डूब जाओगे। इससे यह मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान दुर्लभ है। देखो स्वग का सौधर्म इन्द्र भी

तरसता है कि मैं मनुष्य पर्याय पाऊं, कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करूं। मोक्ष का साक्षात् सम्बन्ध मनुष्यपर्याय से ही है। सम्यक्दर्शन तो चारों गति में प्राप्त होता है, लेकिन शिवनारी की प्राप्ति मनुष्यगति से ही होती है। इससे हे आत्माराम! अनादिकाल से मोहनींद में सो रहे हो। अब जागो, सचेत होओ, सम्यक्दर्शन की प्राप्ति करके मोक्ष का मार्ग पकड़ो तभी यह मनुष्य भव का पाना सफल है। अतः श्रीगुरुओं के प्रथम धारण करने के उपदेश को धारण करो। और भी योगसार पाहुड़ में लिखा है—

भरये पचमकाले, जिण मुद्राधार ग्रन्थ सेवसे।
साढ़े सात करोड़ जाइये निगोय मज्झम्मि ॥१॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में इस पञ्चम काल के निमित्त से परिग्रह लोभ को धारण कर दिगम्बर या दिगम्बर उपासक कहला कर साढ़े सात करोड़ नाव निगोद के पात्र होंगे, क्योंकि परिग्रह लोभी दिगम्बर सम्प्रदाय में इस पञ्चम काल के महात्म्य से विषय कषाय के लोभ में जीव फसकर दुःखी होंगे, ऐसा सिद्धांत है।

सम्यक्दृष्टि की पहिचान

सम्यक्दर्शन मोक्षमार्ग का प्रथम आराधना है। उसके आराधक धर्मात्मा का क्या चिन्ह है इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव मिथ्यात्व से रहित होकर भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्यक्दर्शन का आराधक हुआ है उस जीव का प्रथम चिन्ह या लक्ष्य है। वह धर्मात्मा के प्रति परमप्रीति रख, सम्यकदृष्टि के धर्मात्माओं के प्रति सरलतापूर्वक प्रेम होता है। अपने में जो पूर्ण धर्म प्रकट हुआ है उसे दूसरे

जीव में देखकर ऐसा वात्सल्य भाव होता है कि अहो यह धर्मात्मा जीव अपूर्व धर्म की आराधना करता है। यदि धर्मात्मा को देखकर भी उसके ऐसे परम प्रीति न हो तो उसका आत्मा में धर्म प्रकट नहीं हुआ है। जो जीव वस्तुतः धर्मात्मा है उसे दूसरे धर्मी जीव को देखकर उसके प्रति प्रेमभाव एवं अपूर्व प्रमोद आता है, कि अहो धन्य है वह धर्मात्मा जो भगवान के निरूपित धर्म की साधना करता है। उसके अंतरतल से यह भावना प्रकट होती है कि, यह मेरे से आगे बढ़ गया। जिसके ऐसा ईर्षा बुद्धि दूसरे धर्मात्मा के प्रति हो उसके धर्म का प्रेम नहीं है। अहो यह जीव भी सम्यग्दर्शन का आराधक है ऐसा धर्मात्मा के प्रति परम निश्छल प्रेम होगा। यही सम्यग्दृष्टि जीव का चिह्न है।

श्री तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती उपवास के दिन रानियों के साथ तत्त्वचर्चा कर रहे थे। उसी समय एक रानी ने पूछा हे स्वामिन्! संसार में दुःख है और मोक्ष में सुख है। उस सुख का उपाय क्या है? भरत जी ने उत्तर दिया, आत्मा के आवरण नाश होने पर सुख प्रकट होता है, आत्मा का आवरण राग द्वेष मोह है। इन्हीं के नाश से स्वतन्त्रता सुख प्राप्त होता है। यह लौकिक बात है—

सब्जी बिगड़े दिन बिगड़ जाय। अचार बिगड़े तो वर्ष बिगड़ जाय। स्त्री बिगड़ जाय तो जन्म बिगड़ जाय। किन्तु हे भाई! तुझे यह भी खबर है कि श्रद्धा बिगड़ जाय तो अनन्त जन्म बिगड़ जाते हैं। जिसे साधु धर्मात्मा के प्रति प्रेम नहीं है और अनादर है तो उसके अनन्त भव बिगड़ेंगे, इसकी भी तुझे परवाह है?

ज्ञानी और अज्ञानी के पुण्य का अन्तर

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है। हे गुरुवर! तीर्थंकर पद पंच कल्याणक समवसरण, आदि विभूति पुण्य के कारण ही प्राप्त होती है। इसलिए अगणित सामान्य केवलिया की अपेक्षा तीर्थंकर की महत्ता है। फिर आप पुण्य को हेय क्यों बतलाते हैं? गुरुवर उत्तर देते हैं कि हे मुमुक्षु प्राणी! सुन, पुण्य तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों ही करते हैं। किन्तु अन्तर इतना है कि ज्ञानी का पुण्य सेवक बनता है और अज्ञानी का पुण्य पुण्य का सेवक बनता है। ज्ञानी ज्ञानी का पुण्य ज्ञानी की पूजा करता है और अज्ञानी पुण्य की पूजा करता है।

मैं क्या हूं? दक्षिण के महाशय ने अपनी पत्नी से कहा— आज शाक में नमक क्यों नहीं डाला? पत्नी ने उत्तर दिया— ५० वर्ष के बाद भी तुम्हारा जीव का चटोरापन नहीं गया। महाशय ने कहा—देवि! तूने तो मेरी आंखें खोल दीं। अब मुझे अपना चटोरापन मिटाना है। और मिटाना ही पड़ेगा। यह कह कर वे साधु बन गये। किंतु वहां भी चैन नहीं मिला। बाद मुसलमान बन गये। लेकिन वहाँ भी अपनी भूल पर बिलख बिलख कर रोने लगे। तब उन्हें पुनः कुछ विद्वानों ने मिलकर अपने पुराने धर्म में दीक्षित कर लिया। और उन्हें कुछ लोग फिर भी मुल्ला कह कर चिढ़ाते थे। तब उनमें विचार आया कि मैं क्या हूँ। इसकी खोज करने के लिए वे जंगल की ओर चले गये। वहाँ एक जैन साधु ने बताया कि तुम न हिन्दू हो न मुसलमान हो, तुम तो परमात्मा की तरह शुद्ध आत्मा हो। और वे अपनी खोज में तत्त्वजिज्ञासु बन आत्मसाधना करने लगे।

❋ भक्तामर-स्तोत्र ❋

अपर नाम

श्री आदिनाथ स्तोत्र

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
उद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—भक्तिमान देवों के झुके हुए मुकुटों की जो मणियां हैं उनकी प्रभा का प्रकाशित करने वाले पापरूपी अंधकार के समूह को नष्ट करने वाले और संसारसमुद्र में पड़ते हुए मनुष्यों को युग की आदि में अर्थात् कर्मभूमि के आरम्भ में सहारा देने वाले श्री जिनके चरणयुगलों को भलीभांति प्रणाम करके—

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः -
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्वादशांग रूप जिनवाणी का रहस्य जानने से उत्पन्न हुई जो बुद्धि उससे प्रवीण ऐसे देव लोक के स्वामी इन्द्रों ने तीन जगत के चित्त हरण करने वाले विस्तृत स्तोत्रों के द्वारा जिनकी स्तुति की उस प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का निश्चय है कि मैं भी स्तवन करता हूँ।

बुद्धया विनापि विबुधार्चितपादपीठ
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अर्थ—देवों ने ही जिसके सिंहासन की पूजा की है ऐसे हे जिनेन्द्र ! बुद्धि के बिना ही लज्जारहित मैं आपका स्तवन करने को उद्यतमति हुआ हूं। अर्थात् तत्पर हुआ हूं। बालक के सिवाय दूसरा कौन मनुष्य ऐसा है जो जल में दिखाई देने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को इकाइक पकड़ने के लिए इच्छा करता है ॥३॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे गुणों के समुद्र ! तुम्हारे चन्द्रमा की काँति जैसे उज्ज्वल गुणों के कहने का बुद्धि से देव गुरु बृहस्पति के समान भी कौन पुरुष ऐसा है जो समर्थ हो क्योंकि प्रलय काल की आँधी से उछलते हैं मगर मच्छों के समूह जिसमें ऐसे समुद्र

को भुजाओं से तैरने को कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे मुनियों के ईश्वर ! मैं स्तुति करने में असमर्थ हू तो भी तुम्हारी भक्ति के वससे शक्ति रहित यह बुद्धिहीन आप का स्तवन करने के लिए प्रवृत्त हुआ हू । सो ठीक ही है, क्योंकि हिरण प्रीति के वश से अपने पराक्रम को बिना विचारे ही अपने बच्चे की रक्षा के अर्थ क्या सिंह को नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् उसके सन्मुख लड़न के लिए क्या नहीं दौड़ता ? ॥५॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारु आम्रकलिकानिकरैकहेतु ॥ ६ ॥

अर्थ—थोड़ा है शास्त्रज्ञान जिसका ऐसे और शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों के हँसी के स्थान ऐसे मुझको तुम्हारी भक्ति ही बलपूर्वक वाचाल करती है, क्योंकि कोयल निश्चय से वसन्त ऋतु में मधुर शब्द करती है, सो उसमें आम्र वृक्षों के बौर का समूह ही एक कारण है ॥६॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसने लोक को ढक लिया है, भ्रमर के समान काला है ऐसे रात्रि के सम्पूर्ण अंधकार को शीघ्रता से जैसे सूर्य की किरणें नष्ट कर देता हैं उसी प्रकार हे भगवान ! तुम्हारे स्तवन से शरीरधारी जीवों का जन्म जरा मरण रूप संसार से बंधा हुआ पाप क्षण भर में नाश को प्राप्त होता है।

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद–
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ ! इस प्रकार पाप को नाश करने वाला मानकर थोड़ीसी बुद्धिवाला हूँ तो भी मेरे द्वारा यह तुम्हारा स्तोत्र आरंभ किया जाता है, सो तुम्हारी प्रभा से सज्जन पुरुषों के चित्त को हरण करेगा। जैसे कि कमलिनी के पत्तों पर पानी की बिन्दु निश्चय से मुक्ताफल की शोभा को प्राप्त होती है।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य तो दूर ही रहा उसकी प्रभा ही तालाब मे कमल को प्रकाशमान कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र ! अस्त हो गए हैं समस्त दोष जिसके अर्थात् दोष रहित ऐसे तुम्हारा स्तोत्र तो दूर ही रहे, चर्चा ही अथवा तुम्हारी इस भवसम्बन्धी सम्यक् कथा ही जगत के जीवों के पापों को नष्ट करती है ॥९॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ १० ॥

अर्थ—हे जगत के भूषणरूप भगवान ! संसार में सत्य तथा समीचीन गुणों करके आपको स्तवन करने वाले पुरुष आपके ही समान होते हैं, सो इसमें अधिक आश्चर्य नहीं है । क्योंकि हे नाथ ! जो कोई स्वामी इस लोक में अपने आश्रित पुरुष को विभूति करके अपने समान नहीं करता है उस स्वामी से क्या लाभ ? ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—हे भगवान ! अनिमेष अर्थात् टिमकार रहित नेत्रों से सदा देखने योग्य आपको देख करके मनुष्यों के नेत्र दूसरी ज

अर्थात् और देवों में सन्तोष को नहीं प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है, क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल है शोभा जिसकी ऐसे क्षीरसमुद्र के जल को पीकर के ऐसा कौन पुरुष है जो समुद्र के खारे पानी को पीने की इच्छा करता है ? ॥११॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—तीन लोक के एक शिरोमणि भूषण स्वरूप जिन शान्त भावों की छाया रूप परमाणुओं से तुम बनाये गये हो निश्चय करके वे परमाणु भी उतने ही थे, क्योंकि तुम्हारे समान रूप पृथिवी में दूसरा नहीं है ॥१२॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे नाथ ! देव मनुष्य और नागों के नेत्रों को हरण करने वाला तथा जीता है तीन लोक के कमल चन्द्रमा दर्पण आदि सबही उपमायें जिसने ऐसा तुम्हारा मुख और कहाँ चन्द्रमा के कलंक से मलिन रहने वाले मण्डल जो कि दिनमें पलाश के अर्थात् ढाक के पत्ते के समान पीला होता है ॥१३॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।

ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे तीन जगत् के ईश्वर ! तुम्हारे पूर्णिमा के चन्द्रमंडल की कलाओं सरीखे उज्वल गुण तीन लोक को उल्लंघन करते हैं। अर्थात् तीनों लोकों में व्याप्त हैं। क्योंकि जो गुण एक अर्थात् अद्वितीय तीन लोक के नाथ को आश्रय करके रहते हैं उन्हें स्वेच्छानुसार सब जगह विचरण करने से कौन पुरुष निवारण कर सकता है, रोक सकता है ? कोई भी नहीं ॥१४॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥ १५ ॥

अर्थ—हे प्रभु ! यदि देवाङ्गनाओं करके तुम्हारा मन किंचित् भी विकारमार्ग को नहीं प्राप्त हुआ तो इसमें क्या आश्चर्य है ! क्या कभी कम्पित किये हैं पर्वत जिसने ऐसे प्रलयकाल के पवन से सुमेरुपर्वत का शिखर चलायमान हो सकता है ? कभी नहीं ॥१५॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥ १६ ॥

अर्थ—हे नाथ ! तुम धूम तथा बत्ती रहित तेल के पूर रहित और जो पर्वतों के चलायमान करने वाले पवन से कदाचित् भी

गम्य नहीं है, ऐसे जगत को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय विलक्षण दीपक हो, क्योंकि आप इस समस्त तीन जगत को प्रगट करते हैं ॥१६॥

नास्त कदाचिदुपयासि न राहुगम्य
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभाव
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥ १७ ॥

अर्थ—आप न तो कभी अस्त को प्राप्त होते हैं न राहु से गम्य हैं अर्थात् आपको राहु ग्रस नहीं सकता और न बादलों के उदय से ही आपका महाप्रताप रुक सकता है और एक समय में सहज ही तीनों जगत को प्रगट करते हैं। इस प्रकार हे मुनीन्द्र! लोक में आप सूर्य की महिमा को भी उल्लंघन करनेवाली महिमा धारण करने वाले हैं ॥१७॥

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो सदा उदयरूप रहता है जो मोहरूपी अंधकार को नष्ट करता है, न राहु के मुख के गम्य है न बादलों के गम्य है। अर्थात् जिसे न तो राहु ग्रसता है और न बादल ढकते हैं और जो जगत् को प्रकाशित करता है, ऐसा हे भगवान! तुम्हारा अधिक कान्तिवाला मुखकमल विलक्षण चन्द्रमा के बिम्बरूप शोभित होता है ॥१८॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके मुखरूपी चन्द्रमा से अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रात्रियों में चन्द्रमा के अथवा दिन में सूर्य करके क्या जग लोक में अर्थात् देश में धान्य के खेतों के पक चुकने पर पानी के भार से झुके हुए बादलों करके क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१९॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥

अर्थ—हे नाथ ! किया है अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों का प्रकाश जिसने ऐसा केवलज्ञान जैसा तुममें शोभायमान है वैसा हरिहरादिक नायकों में नहीं है । ठीक है, क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश स्फुरायमान मणियों में महत्त्व को प्राप्त होता है अर्थात् बढ़ जाता है वैसे तो किरणों से व्याप्त अर्थात् चमकते हुए भी कांच के टुकड़ों में नहीं होता ॥२०॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।

किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥ २१ ॥

अर्थ—हे नाथ ! मैं हरिहरादिक देवों का देखना ही अच्छा मानता हूँ, जिनके देखने से हृदय तुममें सन्तोष को पाता है। और आपके देखने से क्या, जिससे कि पृथिवी में कोई अन्य देव दूसरे जन्म में भी मन हरण नहीं कर सकता ! ॥२१॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥ २२ ॥

अर्थ—हे भगवान ! स्त्रियों के सैकड़ा अर्थात् सैकड़ों स्त्रियां सैकड़ों पुत्रों को जनती हैं, परन्तु दूसरी माता तुम्हारे जैसे पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती, सो ठीक ही है। क्योंकि सम्पूर्ण अर्थात् आठों दिशायें नक्षत्रों को धारण करती हैं, परन्तु देदीप्यमान हैं किरणों का समूह जिसका ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है ॥२२॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः ॥२३॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र ! मुनिजन तुम्हें परम पुरुष और अन्धकार

के आगे सूर्य के स्वरूप तथा निर्मल मानते हैं तथा वे मुनिजन तुम्हें ही भले प्रकार पाकर वे मृत्यु को जीतते हैं। इसलिए तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई कल्याणकारी अथवा निरुपद्रव मोक्ष का मार्ग नहीं है।२३॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

अर्थ—हे प्रभो! सतपुरुष तुम्हें अक्षय परम ऐश्वर्य से शोभित चितवन में नहीं आने वाले असख्य गुणों वाले आद्य तीर्थंकर अथवा पंचपरमेष्ठी में आदि अर्हत निवृत्तिरूप अथवा सकल कर्मरहित सर्व देवों के ईश्वर अथवा कृतकृत्य अन्त रहित अथवा अनन्त चतुष्टय सहित कामदेव के नाश करने के लिए केतुरूप ध्यानियों के प्रभु यम आदि आठ प्रकार के योगों के जानने वाले गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप जीव द्रव्य की अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय केवलज्ञान स्वरूप चिद्रूप और कर्ममल रहित कहते हैं ॥२४॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

अर्थ—हे नाथ! देवों ने तुम्हारे बुद्धि बोध अर्थात् केवलज्ञान

की पूजा की है। इसलिए तुम्ही बुद्ध देव हो और तीन लोक के जीवों के अर्थात् सुख या कल्याण के करने वाले हो, इसलिए तुम्ही शंकर हो। और हे धीर! मोक्षमार्ग की रत्नत्रय रूप विधि का विधान करने के कारण तुम ही विधाता हो। इसी प्रकार हे भगवन्! तुम ही प्रकटपने पुरुषों में उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम व नारायण हो ॥ २५॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिनभवोदधिशोषणाय ॥२६॥

अर्थ—हे नाथ! तीन लोक की पीड़ा को हरण करने वाले तुम्हें नमस्कार हो, पृथ्वीतल के एक निर्मल अलंकाररूप तुम्हें नमस्कार हो, तीनों जगत के परमेश्वर तुम्हें नमस्कार हो और हे जिन! संसारसमुद्र के सुखाने वाले तुम्हें नमस्कार हो ॥२६

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२

अर्थ—हे मुनियों के ईश्वर! यदि सम्पूर्ण गुणों ने [illegible] या जगह न रहने के कारण तुम्हारा आश्रय [illegible] किया तब [illegible] किये हुये अनेक देवालयों के आश्रय में [illegible] घमण्ड [illegible] है ऐसे दोषों ने स्वप्न प्रति स्वप्नावस्था में भी तुम्हें [illegible] इसमें कौनसा [illegible] हुआ ?

उच्चै रशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

अर्थ—ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थिर और ऊपर को ओर निकलती हैं किरणें जिसकी ऐसा आपका अत्यन्त निर्मलरूप व्यक्तरूप ऊपर को फैली हैं किरणें जिसकी ऐसे तथा नष्ट किया है अंधकार जिसने ऐसे बादलों के पास रहने वाले सूर्य के बिम्ब के समान शोभित होता है ॥२८॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

अर्थ—हे भगवन ! मणियों की किरण पंक्ति से चित्र विचित्र सिंहासन पर तुम्हारा स्वर्ण के समान मनोज्ञ शरीर ऊंचे उदया चल का शिखर पर आकाश में शोभित हो रहा है किरणरूपी लताओं का चदोवा जिसका ऐसे सूर्य के बिम्ब की तरह अतिशय शोभित है ॥२९॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! ढुरते हुए कुन्द के समान उज्ज्वल चमरों से मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा सोने का सरीखी कांति वाला आपका शरीर उदयरूपी चन्द्रमा के समान निर्मल झरनों की जलधारा जिनमें वह रहा है ऐसा स्वर्णमयी सुमेरु पर्वत के ऊंचे तटों की तरह शोभित होता है ॥३०॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

अर्थ—हे नाथ ! चन्द्रमा के समान रमणीय ऊपर ठहरे हुए तथा निवारण किया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिसने मोतियों के समूह की रचना से बढ़ी हुई शोभा जिसकी ऐसे आपके तीन छत्र तीन जगत का परम ऐश्वर्यपना प्रकट करते हुए शोभित होते हैं ॥३१॥

गम्भीरतारवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! गम्भीर तथा ऊंचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर ऐसा और आपके यश का कहने वाला प्रकट करने वाला दुंदुभि आकाश में सद्धर्म राज की अर्थात्

तीर्थंकर देव की जयघोषणा को प्रकट करते हुए गमन करता है ॥३२॥

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात–
स तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदविन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिव पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

अर्थ—हे नाथ ! गधोदक की बून्दों से मगलीक और मद मद वायु के साथ पड़ने वाला ऊर्ध्वमुखा और दिव्य ऐसा मदार सुन्दर नमेरु, सुपारिजात, सतानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा दिव आकाश से पड़ती है। अथवा आपके वचनों की पंक्ति ही है ॥३३॥

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

अर्थ—हे विभो ! देदीप्यमान सघन और अनेक सख्या वाले सूर्यों के तुल्य तुम्हारे शोभायमान भामडल की अतिशय प्रभा तीन लोकों के प्रकाशमान पदार्थों की द्युति को तिरस्कार करती हुई चन्द्रमा की तरह सौम्य होने पर भी अपनी दीप्ति के द्वारा रात्रि को भी जीतती है ॥३४॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः ।
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्य ।

दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्य ॥३५॥

अर्थ—हे जिनदेव ! स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को [illegible]पण करने म इष्ट तथा तीन लोक के समीचीन धर्म के तत्वों [illegible]हने में चतुर और निर्मल जो अर्थ और उनके समस्त [illegible]ाओं के परिणमनरूप जो गुण उन गुणों से जिसकी योजना [illegible]ी है ऐसा आपकी दिव्यध्वनि होती है ॥३५॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! फूले हुए स्वर्ण, वर्ण, नवीन कमल समूह सदृश कांतिधारण करने वाले, चारों ओर उछलती हुई नखों किरणों के समूह करके सुन्दर ऐसे आपके चरण जहां पर रखते हैं वहां पर देवगण कमलों का परिकल्पित करते हैं [illegible]ात् कमलों की रचना करते हैं ॥३६॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! धर्मोपदेश की विधि में अर्थात् धर्म के

उपदेश देते समय समोशरण में पूर्वोक्त प्रकार से आपकी सद्बुद्धि जैसी हुई वैसी हरिहरादि दूसरे देवों की नहीं हुई, सो ठीक ही है। सूर्य की जैसी अंधकार को नष्ट करने वाली प्रभा होती है वैसी प्रभा प्रकाशमान तारागणों को भी कहाँ से होवे ॥३७॥

श्च्योतमन्दाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

अर्थ—हे नाथ ! झरते हुए मद से जिसके कपोलों के मूल मलीन तथा चंचल हो रहे हैं। और उन पर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौंरे अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं। ऐसे ऐरावत हाथी के समान आकार वाले तथा उद्दण्ड अर्थात् अंकुशादि को नहीं मानने वाले और ऊपर आपड़ने वाले हाथी को देखकर आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषों को भय नहीं होता है ॥३८॥

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३९॥

अर्थ—और हे नाथ ! विदारे हुए हाथियों के मस्तकों से जो रक्त से भीगे हुए उज्ज्वल मोती पड़ते हैं उनके समूह से जिसने पृथ्वी के भाग शोभित कर दिये हैं, ऐसा, तथा आक्रमण करने

: लिए बांधी है चौकड़ी अथवा छलांग जिसने ऐसा सिंह भी
जे में पड़े हुए आपके दोनों चरण रूपी पर्वतों का आश्रय लेने
वाले मनुष्य पर आक्रमण नहीं करता है ॥३९॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

अर्थ—हे भगवान ! प्रलयकाल के पवन से उत्तेजित हुई
अग्नि के सदृश तथा उड़ रहे हैं ऊपर को फुलिंगे जिससे ऐसी
जलती हुई उज्वल और सम्पूर्ण संसार को नाश करने की मानों
जिसकी इच्छा ही है ऐसी सामने आती हुई दावाग्नि को आपका
नाम का कीर्तन रूपी जल शांत करता है ॥४०॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पु[illegible]

अर्थ—हे जगन्नाथ ! जिस पुरुष के हृदय में [illegible]
का नागदमनी जड़ी है वह पुरुष अपने पैरों से [illegible]
मदोमत्त कोयल के कंठ समान काले क्रोध से [illegible]
उठाया है ऊपर को फण जिसने ऐसे इस [illegible]
सांप को शंका रहित अर्थात् निःशंक [illegible]
अर्थात् पांव देकर उसके ऊपर से [illegible]

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद–
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

अर्थ—हे जिनेश्वर ! संग्राम में आपके नाम का कीर्तन कर
से बलवान राजाओं का युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियों की
गर्जना से जिसमें भयानक शब्द हो रहे हैं ऐसा सैन्य भी
उदय को प्राप्त हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से नष्ट हुए
अन्धकार के समान शीघ्र ही भिन्नता को (नाश को) प्राप्त
होता है ॥४२॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह–
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा–
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अर्थ—हे देव ! बरछी की नोकों से छिन्न भिन्न हुए हाथियों
के रक्त रूपी जल प्रवाह के वेग में पड़े हुए और उसे तैरने के
लिए आतुर हुए योद्धाओं से जो भयानक हो रहा है, ऐसे युद्ध
में आपके चरण कमल रूपी वन का आश्रय लेने वाला पुरुष
नहीं जीता जा सके ऐसे भी शत्रुपक्ष को जीतते हुए विजय
को प्राप्त होते हैं ॥४३॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र–
पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ ।

रुन्नघरक्षशिखरस्थितयानपात्रा-

स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

अर्थ—हे जगदाधार ! आपके स्मरण करने से भीषण नक्र चक्र मगर यानी घड़याल पाठीन और पीठा से तथा भयंकर विकराल बड़वाग्नि करके शोभित समुद्र में उछलती हुई तरंगों के शिखरों पर जिनके जहाज पड़े हुए हैं। ऐसे पुरुष आकस्मिक भय के बिना चले जाते हैं अर्थात् पार हो जाते हैं ॥४४॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना

शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।

त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहा

मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

अर्थ—हे जिनराज ! उत्पन्न हुए भयानक जलोदर रोग के भार से जो कुबड़े हो गये हैं और शोचनीय अवस्था को प्राप्त होकर जीने की आशा छोड़ बैठे हैं ऐसे मनुष्य तुम्हारे चरण कमल के रजरूप अमृत से अपनी देह लिप्त करके कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले हो जाते हैं ॥४५॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा

गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।

त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः

सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

अर्थ—जिनके शरीर पांव से लेकर गले तक बड़ी सांकलों से निरन्तर जकड़े हुए हैं और बड़ी बड़ी बेड़ियों

किनारों से जिनकी जघायें अत्यंत छिल गई हैं ऐसे, मनुष्य तुम्हारे नामरूपी मन्त्र को स्मरण करने से तत्काल ही आपसे आप बंधन के भय से सर्वथा रहित होते हैं ॥४६॥

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-

संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।

तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव

यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

अर्थ—जो बुद्धिमान इस तुम्हारे स्तोत्र को अध्ययन करता है, पढ़ता है उसके मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र महोदर रोग और बंधन इन आठ कारणों से उत्पन्न हुआ भय डरकर ही मानो शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥४७॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां

भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।

धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं

तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! इस संसार में मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक आपके गुणों करके गूंथी हुई मनोज्ञ आकारादि वर्णों के यमक, सुश्लेष अनुप्रासादि रूप विचित्र फूलोंवाली और कंठ में पड़ी हुई तुम्हारे इस स्तोत्र रूपी माला को जो पुरुष सदैव धारण करता है उस मान से ऊंचे आदरणीय पुरुष को राज्य स्वर्ग मोक्ष और सत्कार रूप लक्ष्मी विवश होकर प्राप्त होती है ॥४८॥

नमन्नाकेन्द्राली मुकुटमणिभाजालजटिलं,
लसत्पादांभोजद्वयमिह यदीय तनुभृताम् ।
भवज्ज्वालाशान्त्यै प्रभवति जल वा स्मृतमपि,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न) ॥ ३ ॥

अर्थ—नम्रीभूत हुए इन्द्रों के समूह के मुकुटों की मणियों के प्रभाजाल से मिश्रित जिनके कांतिमान दोनों श्रीचरण कमल स्मरण करने मात्र से ही शरीर धारियों की सांसारिक दुख ज्वालाओं का जल की भाँति शमन कर देते हैं, वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रों के गोचर हों ॥३।

यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधि ।
लभते सद्भक्ता शिवसुखसमाज किमु तदा,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न) ॥ ४ ॥

अथ—जिनकी पूजा करने के भाव से प्रसन्नचित हुआ दर्दुर मरण के पश्चात् क्षण भर में ही अणिमा आदि ऋद्धियों का धारक और सुखों का भण्डार स्वरूप कल्पवासीदेव हो गया था और जिनके सद्भक्त सर्वोत्कृष्ट मुक्ति सुख को प्राप्त करते हैं वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रों के गोचर हो जाय ॥४॥

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो,
विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थतनय ।
अजन्मापि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुतगतिर्
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु म (न

शांति के साम्राज्य को प्राप्त करने के ध्येय से जीत लिया था ऐसे महावीर स्वामी हमारे नेत्रों के गोचर हों ॥७॥

महामोहातङ्कप्रशमनपराकस्मिकभिषङ्,
निरापेक्षो बन्धुर्विदितमहिमा मंगलकरः ।
शरण्यः साधूनां भवभयभृतामुत्तमगुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न.) ॥ ८ ॥

अर्थ—जो महामोह रूपी आतंक को शाँत करने के लिए निरपेक्ष वैद्य हैं, जो जीव मात्र के निःस्वार्थ बन्धु हैं, जिनका माहात्म्य लोक में विख्यात हो रहा है, जो सभी के पापों का क्षय करके उनके सुखों के निमित्त हैं, जो जन्म जरा और मरण से भयभीत साधुओं के आश्रयदाता हैं और जिनके गुण सर्वोत्कृष्ट और अनुपम हैं ऐसे महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नेत्रों के गोचर हों ॥८॥

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥

अर्थ—श्री भागचन्द्र जी के द्वारा भक्तिपूर्वक रचित इस महावीराष्टक स्तोत्र का जो पाठ करता है अथवा इसका सुनता है वह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

✱

और जिनालय चारों तुम्हारे पापों को क्षालित करें और तुम्हें सुखी करें ॥२॥

ये पञ्चौषधिऋद्धयः श्रुततपोवृद्धिंगतः पञ्च ये,
ये चाष्टाङ्गमहानिमित्तकुशलाश्चाष्टौ विधाश्चारिणः।
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धिऋद्धीश्वरा
सप्तैते सकलार्चिता मुनिवरा कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तीनों लोकों में विख्यात और बाह्य तथा आभ्यन्तर लक्ष्मी सम्पन्न ऋषभनाथ भगवान आदि चौबीस तीर्थंकर, श्रीमान् भरतेश्वर आदि १२ चक्रवर्ति, नवनारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ये ६३ शलाका महापुरुष तुम्हारे पापों का क्षय करें। और तुम्हें सुखी करें ॥३॥

ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ स्थिता
जम्बूशाल्मलिचैत्यशाखिषु तथा वक्षाररूप्याद्रिषु।
इक्ष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे,
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहा कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जया आदि आठ देवियाँ, विद्या आदि सोलह देवता, चौबीसों तीर्थंकरों की मातायें पिता, यक्ष, और यक्षिणी, बत्तीस इन्द्र, तिथि देवता, आठ दिक्कुमारियां और दश दिक्पाल ये सब तुम्हारे लिए माङ्गलिक हों ॥४॥

कैलाशे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरी।
चम्पा वा वसुपूज्यसज्जिनपते सम्मेदशैलेऽर्हताम्।

शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरी नेमीश्वरस्यार्हत
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ५ ॥

अर्थ—सभी औषधि ऋद्धिधारी, उत्तम तप ऋद्धिधारी, अवधृत क्षेत्र से भी दूरवर्ती विषय के आस्वादन दर्शन स्पर्शन, घ्राण और श्रवण की समर्थता की ऋद्धि के धारी अष्टांग महानिमित्त विज्ञता की ऋद्धि के धारी, आठ प्रकार की चारण ऋद्धि के धारी, पांच प्रकार के ज्ञान की ऋद्धि के धारी, तीन प्रकार के बलों की ऋद्धि के धारी और बुद्धि ऋद्धीश्वर, ये सातों जगत्पूज्य गणनायक तुम्हारे पापों को क्षालित करें और तुम्हें सुखी बनावें। बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल औषध, रस और क्षेत्र के भेद से ऋद्धियों के ८ भेद हैं ॥५॥

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते,
सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे,
धर्मादेव नभोऽपि वर्षति नगैः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥ ६ ॥

अर्थ—भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि-कैलाश पर्वत पर है। महावीरस्वामी की पावापुर में है। वासुपूज्य स्वामी की चम्पापुरी में है। नेमिनाथ स्वामी की ऊर्जयन्त पर्वत के शिखर पर और शेष बीस तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि श्री सम्मेदशिखर पर्वत पर है, जिनका अतिशय और वैभव विख्यात है। ऐसे ये सभी निर्वाण भूमियां तुम्हें निष्पाप बनावें और तुम्हें सुखी करें ॥६॥

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो,
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक् ।

यः कैवल्यपुरवेशमहिमा सम्पादितः स्वर्गिभिः
कल्याणानि च तानि पञ्च सतत कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥७॥

अर्थ—ज्योतिष, व्यतर, भवनवासी और वैमानिकों आवासा के मेरुओं, कुलाचलों, जम्बु और शाल्मलिवृक्षों, वक्षार विजयार्धों, पर्वतों, इक्ष्वाकार पर्वतों, कुण्डल पर्वत, नन्दीश्वरद्वीप और मानुषोत्तर पर्वत (तथा रुचिकवर पर्वत) के सभी अकृत्रिम जिन चैत्यालय तुम्हारे पापों का क्षय करें और तुम्हें सुखी बनावें ॥७॥

अर्हाश मूर्त्यभावादपङ्कलदहनादग्निरुर्वी क्षमाप्त्या,
नैःसङ्गाद्वायुराप' प्रगुणशमतया स्वात्मनिष्ठैः सुपज्वा ।
सोम सौम्यत्वयोगात् रविरिति च विदुस्तेजस सन्निधानाद्,
विश्वात्मा विश्वचक्षुवितरतु भवतां मङ्गलं श्रीजिनेशः॥८॥

अर्थ—तीर्थंकरों के गर्भकल्याणक, जन्माभिषेक कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, केवलज्ञान कल्याणक और कैवल्यपुर प्रवेश (निर्वाण) कल्याणक के देवों द्वारा सम्भावित महोत्सव तुम्हें सर्वदैव माङ्गलिक रहें ॥८॥

इत्थ श्रीजिनमङ्गलाष्टकमिदं सौभाग्यसम्पत्करम्,
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुष' ।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैः धर्मार्थकामान्विता,
लक्ष्मीराश्रियते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ॥ ९ ॥

अर्थ—सौभाग्यसम्पत्ति का प्रदान करने वाले इस श्री जिनेन्द्र मङ्गलाष्टक को जो सुधी तीर्थंकरों के पंचकल्याणक के महोत्सवों के अवसर पर तथा प्रभातकाल में भावपूर्वक सुनते और पढ़ते हैं,

वे सज्जन धर्म, अर्थ और काम से समन्वित लक्ष्मी के आश्रय बनते हैं और पश्चात् अविनश्वर मुक्तिलक्ष्मी को भी प्राप्त करते हैं ॥८॥

दृष्टाष्टक स्तोत्र

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि,
भव्यात्मनां विभवसम्भवभूरिहेतु ।
दुग्धाब्धिफेनधवलोज्ज्वलकूटकोटी-
नद्धध्वजप्रकरराजिविराजमानम् ॥ १ ॥

अर्थ—आज मैंने, जो भव्य जीवों के ताप को हरनेवाला है, जो अपरिमित विभव की उत्पत्ति का हेतु है और जो दूध तथा समुद्र फेन के समान धवलोज्ज्वल शिखर के अग्रों में लगे हुए ध्वज पंक्ति से शोभायमान है ऐसे जिनालय के दर्शन किये ॥१॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-
धामर्द्धिवर्धितमहामुनिसेव्यमानम् ।
विद्याधरामरवधूजनमुक्तदिव्य-
पुष्पाञ्जलिप्रकरशोभितभूमिभागम् ॥ २ ॥

अर्थ—आज मैंने तीन लोक की लक्ष्मी का एकाश्रय है ऋद्धि समान महामुनियों से सेव्यमान है ...

विद्याधरों और देवों की वधूजनों के द्वारा बिखेरी गई दिव्य पुष्पाञ्जलि के कारण शोभायमान हो रहो है ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किये ॥२॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-
विख्यातनाकगणिकागणगीयमानम् ।
नानामणिप्रचयभासुररश्मिजाल-
व्यालीढनिर्मलविशालगवाक्षजालम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आज मैंने जहाँ पर भवनवासी आदि देवों की गणिकायें गान कर रही हैं और जिसके विशाल गवाक्षजाल नाना प्रकार के मणियों की देदीप्यमान कान्ति से कर्बुरित हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किये ॥३॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुरसिद्धयक्ष-
गन्धर्वकिन्नरकरार्पितवेणुवीणम् ।
संगीतमिश्रितनमस्कृतिधारनादै-
रापूरिताम्बरतलोरुदिगन्तरालम् ॥ ४॥

अर्थ—आज मैंने जहां का दिगन्तराल देव सिद्ध यक्ष गन्धर्व और किन्नरों के द्वारा हाथ में वेणुनिर्मित वीणा लेकर नमस्कार करते समय किये गए संगीतनाद से आपूरित हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किए ॥४॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विलसद्विलोल,
मालाकुलालिललितालकविभ्रमाणम् ।

माधुर्यवाद्यलयनृत्यविलासिनीना,
लीलाचलद्वलयनूपुरनादरम्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आज मैंने हिलती हुई सुन्दर मालाओं में आकुल हुए भ्रमरों के कारण ललित अलकों की शोभा को धारण कर रहा है और जो मधुर शब्दयुक्त वाद्य और लय के साथ नृत्य करती हुई वाराङ्गनाओं की लीला से हिलते हुए वलय और नूपुर क नाद से रमणीय प्रतीत होता है ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किए ॥५॥

दृष्ट जिनेन्द्रभवन मणिरत्नहेम–
सारोज्ज्वलै कलशचामरदर्पणाद्यै ।
सन्मगलैः सततमष्टशतप्रभेदै–
विभ्राजित विमलमौक्तिकदामशोभम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आज मैंने जो मणिरत्न और स्वर्ण से निर्मित एक सौ आठ प्रकार के कलश चामर और दर्पण आदि समीचीन मगल द्रव्यों से शोभित हो रहा है और जो निर्मल मौक्तिक मालाओं से सुशोभित है ऐसे जिन द्रभवन क दर्शन किए ॥६॥

दृष्ट जिनेन्द्रभवन वरदेवदारु,
कर्पूरचन्दनतरुष्कसुगन्धिधूपै ।
मेघायमानगगने पवनाभिघात–
चंचलद्विमलकेतनतुङ्गशालम् ॥ ७ ॥

अर्थ—आज मैंने जहां का उत्तुग शाल उत्तम प्रकार के देव

सुगंधित धूप से निकले हुए धूम्र के कारण मानों आकाश में मेघ ही छाये हों, इस प्रकार की विचित्र शोभा को लिए हुए पवन के अभिघात से हिलते हुए पताकाओं से युक्त हो रहा है ऐसे जिनेंद्रभवन के दर्शन किए।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं धवलातपत्र-
च्छायानिमग्नतनुयक्षकुमारवृन्दैः ।
दोधूयमानसितचामरपङ्क्तिभासं,
भामण्डलद्युतियुतप्रतिमाभिरामम् ॥ ८ ॥

अर्थ—आज मैंने धवल आतपत्र की छाया में लीन हुए यक्षकुमारों के कारण जो ढुरते हुए शुक्ल चामरों की पंक्ति की शोभा को धारण करता है और जो भामण्डल की द्युति से युक्त प्रतिमाओं के कारण अत्यन्त अभिराम लग रहा है ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये ॥८॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विविधप्रकार-
पुष्पोपहाररमणीयसुरत्नभूमिम् ।
नित्यं वसन्ततिलकश्रियमादधानं,
सन्मङ्गलं सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आज मैंने नाना प्रकार के पुष्पों के उपहार के कारण जहां की सुन्दर रत्नभूमि रमणीय लग रही है, जो निरन्तर वसन्त ऋतु तिलक वृक्ष की शोभा को धारण करता है, जो सर्वोत्तम मंगल रूप है और जो समस्त श्रेष्ठ मुनिगणों के द्वारा वंदनीय है ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किये ॥९॥

दृष्ट मयाद्य मणिकाञ्चनचित्रतुङ्ग,
सिंहासनादिजिनबिम्बविभूतियुक्तम् ।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे,
सन्मङ्गलं सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—आज मैंने जो मणि और कांचन के कारण विचित्र [illegible] ऊंचा हुए सुन्दर सिंहासन आदि विभूति से युक्त जिनबिंब [illegible] शोभायमान हो रहा है जिसकी निरुपम कीर्ति गाई जाती है, और [illegible] लिये मंगलस्वरूप है और जो सकल महामुनियों के द्वारा [illegible] वंदनीय है, ऐसे जिनचैत्यालय के दर्शन किये ॥१०॥

अद्याष्टक-स्तोत्र

अद्य मे सफलं जन्म नेत्रे च सफले मम ।
त्वामद्राक्ष यतो देव हेतुमक्षयसम्पदः ॥ १ ॥

अर्थ—हे देव ! आज मैंने अक्षय संपत्ति के हेतुभूत आपके [illegible]न किए, इससे मेरा जन्म सफल हो गया। और दोनों नेत्र [illegible] हो गए ॥१॥

अद्य संसार-गम्भीर-पारावारः सुदुस्तरः ।
सुतरोऽयं क्षणेनैव जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ २ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से तरने के लिए [illegible] कठिन यह गम्भीर संसार रूपी समुद्र मेरे लिए क्षणमात्र [illegible] सुगम हो गया है।

सुगंधित धूप से निकले हुए धूम्र के कारण मानों आकाश में मेघ ही छाये हों, इस प्रकार की विचित्र शोभा को लिए हुए पवन के अभिघात से हिलते हुए पताकाओं से युक्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रभवन के दर्शन किए।

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं धवलातपत्र-
च्छायानिमग्नतनुयक्षकुमारवृन्दैः ।
दोधूयमानसितचामरपङ्क्तिभासं,
भामण्डलद्युतियुतप्रतिमाभिरामम् ॥ ८ ॥

अर्थ—आज मैंने धवल आतपत्र की छाया में लीन हुए यक्षकुमारों के कारण जो दुरते हुए शुक्ल चामरों की पंक्ति की शोभा को धारण करता है और जो भामण्डल की द्युति से युक्त प्रतिमाओं के कारण अत्यन्त अभिराम लग रहा है ऐसे जिनेन्द्र भवन के दर्शन किये ॥८॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विविधप्रकार-
पुष्पोपहाररमणीयसुरत्नभूमिम् ।
नित्यं वसन्ततिलकश्रियमादधानं,
सन्मङ्गलं सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आज मैंने नाना प्रकार के पुष्पों के उपहार के कारण जहां की सुन्दर रत्नभूमि रमणीय लग रही है, जो निरन्तर वसन्त ऋतु तिलक वृक्ष की शोभा को धारण करता है, जो सर्वोत्तम मंगल रूप है और जो समस्त श्रेष्ठ मुनिगणों के द्वारा वदनीय ... जिनेन्द्रभवन के दर्शन किये ॥९॥

दृष्ट मयाद्य मणिकाञ्चनचित्रतुङ्ग,
सिंहासनादिजिनबिम्बविभूतियुक्तम् ।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे,
सन्मङ्गलं सकलचन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—आज मैंने जो मणि और कांचन के कारण विचित्र शोभा को लिए हुए उत्तुंग सिंहासन आदि विभूति से युक्त जिनबिंब शोभायमान हो रहा है जिसकी निरुपम कीर्ति गाई जाती है, जो मेरे लिये मंगलस्वरूप है और जो समस्त श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा वंदनीय है, उसे जिनचैत्यालय के दर्शन किये ॥१०॥

अद्याष्टक-स्तोत्र

अद्य मे सफलं जन्म नेत्रे च सफले मम ।
त्वामद्राक्ष यतो देव हेतुमक्षयसंपदः ॥ १ ॥

अर्थ—हे देव ! आज मैंने अक्षय संपत्ति के हेतुभूत आपके दर्शन किए, इससे मेरा जन्म सफल हो गया। और दोनों नेत्र सफल हो गए ॥१॥

अद्य संसार-गम्भीर-पारावारः सुदुस्तरः ।
सुतरोऽयं क्षणेनैव जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ २ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से तरने के लिए अत्यंत कठिन यह गंभीर संसार रूपी समुद्र मेरे लिए क्षणमात्र में सुतर हो गया है।

अद्य मे क्षालितं गात्रं नेत्रे च विमले कृते ।
स्नातोऽहं धर्म-तीर्थेषु जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मेरा शरीर धुल गया है, नेत्र निर्मल हो गए और मैंने धर्मतीर्थों में स्नान कर लिया ।

अद्य मे सफलं जन्म प्रशस्तं सर्वमंगलम् ।
संसारार्णव तीर्णोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करने से मेरा जन्म सफल हो गया। मुझे प्रशस्त सब मंगलों की प्राप्ति हो गई और मैं संसाररूपी समुद्र से तर गया।

अद्य कर्माष्टक-ज्वालं विधूतं सकषायकम् ।
दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मैंने कषाय के साथ आठ कर्मों को जलाकर दूर कर दिया और मैं दुर्गति से पार हो गया ॥५॥

अद्य सौम्या ग्रहाः सर्वे शुभाश्चैकादशस्थिताः ।
नष्टानि विघ्न-जालानि जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से एकादश स्थान में स्थित सब ग्रह सौम्य और शुभ हो गए तथा विघ्न जाल नष्ट हो गए।

अद्य नष्टो महाबन्धः कर्मणां दुःखदायकः ।
सुख सङ्गं समापन्नो जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से दुःख देने वाला कर्मों का महाबंध नष्ट हो गया और मैं सुखकर सगति को प्राप्त हो गया ॥७॥

अद्य कर्माष्टकं नष्टं दुःखोत्पादन कारकम् ।
सुखाम्भोधि-निमग्नोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से दुःख को उत्पन्न करने वाले आठ कर्म नष्ट हो गए तथा मैं सुख-सागर में निमग्न हो गया ॥८॥

अद्य मिथ्यान्धकारस्य हन्ता ज्ञानदिवाकरः ।
उदितो मच्छरीरेऽस्मिन् जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥९॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मेरे शरीर में मिथ्यात्व स्वरूप अंधकार का नाश करने वाला ज्ञान-सूर्य उदित हो गया ॥९॥

अद्याहं सुकृतीभूतो निर्धूताशेषकल्मष ।
भुवनत्रयपूज्योऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥१०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करने से समस्त कल्मष को धोकर मैं सुकृती और तीन लोक में पूज्य हो गया ॥१०॥

अद्याष्टकं पठेद्यस्तु गुणानन्दितमानसः ।
तस्य सर्वार्थसंसिद्धिः जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥११॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करते समय जो आपके गुणों में आनन्दपूर्वक अपने मन को लगा कर इस अद्याष्टक

अद्य मे क्षालित गात्रं नेत्रे च विमले कृते ।
स्नातोऽहं धर्म-तीर्थेषु जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मेरा शरीर धुल गया है, नेत्र निर्मल हो गए और मैंने धर्मतीर्थों में स्नान कर लिया ।

अद्य मे सफलं जन्म प्रशस्तं सर्वमंगलम् ।
संसारार्णव तीर्णोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करने से मेरा जन्म सफल हो गया। मुझे प्रशस्त सब मंगलों की प्राप्ति हो गई और मैं संसाररूपी समुद्र से तर गया।

अद्य कर्माष्टक-ज्वालं विधूतं सकषायकम् ।
दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मैंने कषाय के साथ आठ कर्मों को जलाकर दूर कर दिया और मैं दुर्गति से पार हो गया ॥५॥

अद्य सौम्या ग्रहाः सर्वे शुभाश्चैकादशस्थिताः ।
नष्टानि विघ्न-जालानि जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से एकादश स्थान में स्थित सब ग्रह सौम्य और शुभ हो गए तथा विघ्न जाल नष्ट हो गए।

अद्य नष्टो महाबन्धः कर्मणां दुःखदायकः ।
सुख-सङ्गं समापन्नो जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से दुःख देने ा कर्मों का महाबंध नष्ट हो गया और मैं सुखकर सगति प्राप्त हो गया ॥७॥

अद्य कर्माष्टकं नष्टं दुःखोत्पादन कारकम् ।
सुखाम्भोधि-निमग्नोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से दुःख को त्न करने वाले आठ कर्म नष्ट हो गए तथा मैं सुख-सागर निमग्न हो गया ॥८॥

अद्य मिथ्यान्धकारस्य हन्ता ज्ञानदिवाकरः ।
उदितो मच्छरीरेऽस्मिन् जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥९॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आज आपका दर्शन करने से मेरे शरीर मिथ्यात्व स्वरूप अंधकार का नाश करने वाला ज्ञान-सूर्य दित हो गया ॥९॥

अद्याहं सुकृतीभूतो निर्धूताशेषकल्मषः ।
भुवनत्रयपूज्योऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥१०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करने से समस्त कल्मष धोकर मैं सुकृती और तीन लोक में पूज्य हो गया ॥१०॥

अद्याष्टकं पठेद्यस्तु गुणानन्दितमानसः ।
तस्य सर्वार्थसंसिद्धि जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥११॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन करते समय जो आपके गुणों में आनंदपूर्वक अपने मन को लगा कर ...

स्तोत्र को पढ़ता है उसे आपका दर्शन करने मात्र से सर्व अर्थों में सिद्ध या सर्वार्थ सिद्ध प्राप्त हो जाते हैं ॥११॥

॥ॐ॥

सिद्ध-पूजा

ऊर्ध्वाधोरयुत सबिन्दु सपर ब्रह्मस्वरावेष्टित
वर्गा-पूरितदिग्गताम्बुजदल तत्सन्धि-तत्त्वान्वितम् ।
अंत पत्रतटेष्वनाहतयुत ह्रींकारसंवेष्टित
देव ध्यायति य स मुक्ति सुभगो वैरीभकण्ठीरवः ॥

अर्थ—ऊपर और नीचे रेफ से युक्त तथा बिन्दु संयुक्त हकार लिखे अर्थात् ह्रीं लिखे, उसे ब्रह्मस्वर से वेष्टित करे। दिग्गत कमल के आठ पत्रों पर आठ वर्ग लिखे और पत्रों की आठों संधियों में तत्त्व अर्थात् णमो अरहंताणं लिखे। पत्रों के भीतर किनारों पर ओंकार लिखे। फिर सम्पूर्ण यन्त्र को ह्रींकार की तीन रेखाओं से वेष्टित करे। यह सिद्ध यन्त्र है। इस देव का जो चिंतवन करता है वह मुक्ति का भोक्ता कर्मरूपी हाथी के नाश के लिए सिंह के समान होता है।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् । (स्थापनम्)

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षताम् निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्थ—बड़े से बड़े समस्त दोषों का शोधन करने में समर्थ स्वभावरूपी स्वच्छ चाँवलों से अप्रतिहत ज्ञान के धारी सहज सिद्ध परमात्मा की मैं पूजा करता हू ।

समयसारसुपुष्पसुमालया, सहजकर्मकरेण विशोधया ।
परमयोगबलेन वशीकृत, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ।

अर्थ—सहज क्रिया रूप करके दुवारा शोधी गई आत्म स्वभाव रूपी सुन्दर फूलों की सुशोभित माला से उत्कृष्ट योग के बल से वश में किये गये सहज सिद्ध परमात्मा की मैं पूजा करता हू ।

अकृतबोधसुदिव्यनिवेद्यकै-विहितजातजरामरणान्तकै ।
निरवधिप्रचुरात्मगुणालय, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं० ।

अर्थ—जन्म जरा मरण को नष्ट करने वाले सहज ज्ञान रूपी सुन्दर नैवेद्य से अमर्याद और प्रचुर आत्मगुणों के निकेतन सहज और सिद्ध परमात्मा की मैं पूजा करता हूँ ।

सहजरत्नरुचिप्रतिदीपकै, रुचिविभूतितमः प्रविनाशनै ।
निरवधिस्वविकाशप्रकाशनै, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोहांधकारविनाशनाय दीप० ।

अर्थ—मोगाकांक्षा रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले सहज सम्यक्त्व रूपी दीपक से निरवधि आत्मविकाश द्वारा विकाश को प्राप्त हुए सहज सिद्ध परमात्मा की मैं पूजा करता हूँ ।

निजगुणाक्षयरूपसुधूपनैः, स्वगुणघातिमलप्रविनाशनै ।
विशदबोधसुदीर्घसुखात्मक, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अष्टकर्मदहनाय धूप० ।

अर्थ—आत्मगुणों के घातक कर्ममलों को नष्ट करने वाले अपने अक्षय गुणरूपी धूप से विशद बोध और अनन्त सुख स्वरूप सहज सिद्धपरमात्मा की मैं पूजा करता हूं ।

परमभावफलावलिसम्पदा, सहजभावकुभावविशोधया ।
निजगुणास्फुरणात्मनिरंजन, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफलप्राप्तये फल० ।

अर्थ—सहज रूप से कुभाव भावों का शोधन करने वाले उत्कृष्ट भावरूपी फल सम्पत्ति से आत्मगुणों का स्मरण होने से निरंजनपद को प्राप्त हुए सहज सिद्धात्मा [illegible] करता हूँ ।

नेत्रोन्मीलि विकाशभावनिवहैरत्यंतबोधा
वार्गंधाक्षतपुष्पदामचरुकै [illegible]

यश्चिन्तामणिशुद्धभावपरमज्ञानात्मकैरर्चये
सिद्धं स्वादुमगाधबोधमचलं गचर्चयामो वयम् ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्यं ।

अर्थ—नेत्रोन्मीलि विकास को प्राप्त हुए भावसमूह के द्वारा जो पुरुष चिन्तामणि के समान शुद्धभाव और उत्तम ज्ञान रूपी जल गंध अक्षत पुष्पमाला नैवेद्य दीप धूप और फलों से आत्मस्वादी बाधारहित ज्ञान के स्वामी अचल सिद्धपरमात्मा की पूजा करता है उसके लिए वह पूजा अत्यन्त ज्ञान का कारण होता है, अतः हम भी उन सिद्धपरमात्मा की पूजा करते हैं।

त्रैलोक्येश्वरवन्दनीयचरणाः प्रापुः श्रियं शाश्वतीं ।
यानाराध्य निरुद्धचण्डमनसः सन्तोपितीर्थंकराः ॥
सत्सम्यक्त्वविरोधवीर्यविशदाऽव्याबाधताद्यैर्गुणै-
र्युक्तांस्तानिह तोष्टवीमि सततं सिद्धान् विशुद्धोदयान् ॥

ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(पुष्पांजलि क्षेपण)

अर्थ—हे सिद्ध भगवान! आपकी तीर्थंकर देव आराधना करते हैं। जिनको तीन लोक के इन्द्र देव चरणों में मस्तक झुकाते हैं, वे भी आपको मस्तक झुकाते हैं। हे सिद्ध भगवान! आपने [illegible] कर्मों का नाश करके आठ गुणों को प्राप्ति करली है। [illegible] नमस्कार हो, नमस्कार हो।

करने वाले और निर्मोही विशुद्ध सिद्धसमूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

विकार विवर्जित तर्जितशोक, विबोध सुनेत्र विलोकितलोक।
विहार विराव विरंग विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥५॥

अर्थ—हे विकार रहित शोक को तर्जित करने वाले ज्ञान रूपी उत्तम नेत्र से संसार को देखने वाले भाररहित शब्दरहित वर्णरहित और निर्मोही विशुद्ध सिद्धसमूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

रजामलखेदविमुक्त विगात्र, निरन्तर नित्य सुखामृत पात्र।
सुदर्शनराजित नाथ विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥६॥

अर्थ—हे कर्ममल के खेद से रहित अशरीरी सब प्रकार की विपदाओं रहित नित्य सुखरूपी अमृत के पात्र उत्तम सम्यक्त से सुशोभित सबके स्वामी और मोह रहित विशुद्ध सिद्ध समूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

नरामरवन्दित निर्मलभाव, अनन्त मुनीश्वर पूज्य विहाव।
सदोदय विश्व महेश विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥७॥

अर्थ—हे मनुष्य और देवों द्वारा पूज्य निर्मल स्वभाव वाले अनंत बड़े बड़े मुनियों से पूज्य हावभाव आदि विकारों से रहित सदा उदयशील विश्वस्वरूप महेश और मोह रहित विशुद्ध सिद्धसमूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

विदम्भ वितृष्ण विदोष विनिद्र, परापर शंकर सार वितंद्र।
विकोप विरूप विशंक विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥८॥

अर्थ—हे दम्भरहित तृष्णा रहित दोष रहित निद्रा रहित सुख देने वाले साररूप तंद्रा रहित कोप रहित रूप

रहित गन्ध रहित और मोह रहित विशुद्ध सिद्धसमूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

जरामरणोज्झित वीतविहार, विचिन्तित निर्मल निरहंकार।
अचिन्त्य चरित्र विदर्प विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥९॥

अर्थ—हे जरा और मरण से रहित विहार रहित अचिन्त्य निर्मल अहंकार रहित अचिन्त्य चारित्र के धारी दर्प रहित और मोह रहित विशुद्ध सिद्धसमूह, आप हम पर प्रसन्न हों।

विवर्ण विगन्ध विमान विलोभ विमाय विकाय विशब्द विशोभ
अनाकुल केवल सर्व विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥१०॥

अर्थ—हे वर्ण रहित गंध, रहित मान रहित, लोभ रहित, माया रहित, शरीर रहित, शब्द रहित लौकिक शोभा से शून्य, आकुलता रहित मोह रहित विशुद्ध सिद्धसमूह आप हम पर प्रसन्न हों।

असमयसमयसारं चारुचैतन्यचिह्न
परपरणतिमुक्तं पद्मनन्दीन्द्रवन्द्यम्।
निखिलगुणनिकेतं सिद्धचक्रं विशुद्धं
स्मरति नमति यो वा स्तौति सोऽभ्येति मुक्तिम् ॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य अद्भुत अर्थात् संसारी आत्मा से भिन्न समयसार स्वरूप सुन्दर चैतन्य चिह्न पर परिणति से रहित पद्मनन्दि आचार्य द्वारा वन्दनीय समस्त गुणों के मन्दिर और विशुद्ध सिद्धसमूह का स्मरण करता है और स्तुति करता है वह मुक्ति का अधिकारी होता है।

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपदप्राप्तये महा अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अविनाशी अविकार परमरसधाम हो,
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हो,
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हो
जगतशिरोमणि सिद्ध सदा जयवंत हो ॥
ध्यान अग्नि कर कर्मकलंक सबै दहे,
नित्य निरंजन देव सरूपी हो रहे,
ज्ञायक के आकार ममत्व निवारिके
सो परमातम सिद्ध नमूं सिर नाय के ॥

अविचल ज्ञान प्रकाशते, गुण अनन्त का खान ।
ध्यान धरे सो पाइये, परम सिद्ध भगवान ॥

(इत्याशीर्वाद)

नवीन देव शास्त्र गुरु पूजा

(द्रव्याष्टक)

शुद्धब्रह्म परमात्मा, शब्दब्रह्म जिनवाणि ।
शुद्धातम साधक दशा, नमों जोड़ जुग पाणि ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्रावतरावतर संवौषट्, इति आह्वाननम् । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ, स्थापनं । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्, इति सन्निधिकरण ।

अष्टक

आशा की प्यास बुझाने को, अब तक मृगतृष्णा में भटका ।
समझ विषय विषभोगों को, उनकी ममता में था अटका ॥

तव सौम्य दृष्टि तरी प्रभुवर, समतारस पीने आया हूँ।
इस जल ने प्यास बुझाई ना, इसको लौटाने आया हूँ ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो जलं ।

क्रोधानल से जब जला हृदय, चन्दन ने कोई न काम किया।
तन को तो शान्त किया इसने, मनको न मगर आराम दिया ॥
संसार ताप से तप्त हृदय, सन्ताप मिटाने आया हूँ।
चरणों में चन्दन अर्पण कर, शीतलता पाने आया हूँ ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो चन्दनं ।

अभिमान किया अब तक जड़ पर, अक्षय निधि को ना पहिचाना।
मैं जड़ का हूँ जड़ मेरा है, यह सोच बना था मस्ताना ॥
क्षत में विश्राम किया अब तक, अक्षत को प्रभुवर नहिं जाना।
अभिमान की आन मिटाने को, अक्षय निधि तुमको पहिचाना ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो अक्षतं ।

दिन रात वासना में रह कर मेरे मन ने प्रभु सुख माना।
पुरुषत्व गमाया पर प्रभुवर, उसके छल को ना पहिचाना ॥
माया न डोला लाल प्रथम, कामुकता ने फिर बाँध लिया।
उसका प्रमाण यह पुष्पबाण, ला करके प्रभुवर भेंट किया ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो पुष्पं ।

र पुद्गल का भक्षण करके, यह भूख मिटाना चाही थी।
स नागिन से बचने को प्रभु, हर चीज बनाकर खाई थी ॥

मिष्टान्न अनेक बनाये थे, दिन रात मखे न मिटी प्रभुवर।
अब संयम भाव जगाने को, लाया हूँ ये सब थाली भर।

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो नैवेद्य ॥

पहिले अज्ञान मिटाने को, दीपक था जग में उजियाला
उससे न हुआ कुछ तब युगने, बिजली का बल्ब जला डाला
प्रभुभेद ज्ञान की आख न थी, क्या कर सकती थी वह ज्वाला
यह ज्ञान है कि अज्ञान कहो, तुमको भी दीप दिखा डाला

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो दीप।

शुभ कर्म कमाऊ सुख होगा, मैंने अब तक यह माना था
पाप कर्म को त्याग पुण्य को, चाह रहा अपनाना था।
किंतु समझ कर शत्रु कर्म को, आज जलाने आया हूँ
लेकर दशाग यह धूप, कर्म की धूम उड़ाने आया हूँ।

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो धूप॥

भोगों को अमृतफल जाना, विषयों में निशदिन मस्त रहा
उनके संग्रह में हे प्रभुवर, म व्यस्त त्रस्त अभ्यस्त रहा
शुद्धात्म प्रभा जो अनुपम फल, मै उसे खोजन आया हूँ
प्रभु सरस सुवासित य जड़ फल, मैं तुम्हें चढ़ाने आया हूँ

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो फल।

बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता
अरे पूर्णतया पाने म, क्या इसकी है आवश्यकता

मैं मय पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्घ मेरी माया ।
बहुमूल्य द्रव्य मय अर्घ लिए, अर्पण के हेतु चला आया ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो अर्घं ।

※

जयमाला

समयसार जिनदेव हैं, जिनप्रवचन जिनवाणि ।
नियमसार निर्ग्रन्थ गुरु, करें कर्म की हानि ॥
हे वीतराग सर्वज्ञ प्रभो, तुमको ना अब तक पहिचाना ।
अतएव पड़ रहे हैं प्रभुवर, चौरासी के चक्कर खाना ॥
करुणानिधि तुमको समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा ।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा ॥
तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना ।
तुम हो निरीह जग से कृतकृत, इतना ना मैंने पहिचाना ॥
प्रभु वीतराग की वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है ।
जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है ॥
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया ।
बन कर पर का कर्त्ता अब तक, सत् का न प्रभो सन्मान किया ॥
भगवान तुम्हारी वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है ।
स्याद्वाद नय अनेकान्तमय, समयसार समझाया है ॥

उस पर तो ध्यान दिया न प्रभो, विकथा मे समय गमाया है।
शुद्धातम रुचि न हुई मन म, ना मन को उधर लगाया है॥
मैं समझ न पाया था अब तक, जिनवाणी किसको कहते हैं।
प्रभु वीतराग की वाणी मं, कैसे क्या तत्व निकलते हैं॥
राग धर्ममय धर्म रागमय, अब तक ऐसा जाना था।
शुभ कर्म कमाते सुख होगा, बस अब तक ऐसा माना था॥
पर आज समझ म आया है, कि वीतरागता धर्म अहा।
रागभाव मे धर्म मानना, जिनमत म मिथ्यात्व कहा॥
वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरतर, हमको जो दिखलाती है॥
उस वाणी के अन्तर्मम को, जिनगुरुओं ने पहिचाना है।
उन गुरुओं के चरणों मे, मस्तक बस हम झुकाना है॥
दिन रात आत्मा का चितन, मृदु सभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन॥
निर्ग्रंथ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वातम में सदा विचरते जो।
ज्ञानी ध्यानी समरससानी, द्वादश विधि तप नित करते जो॥
चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों मे शीश झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं॥
हो नमस्कार शुद्धातम को, हो नमस्कार जिनवरवाणी।
हो नमस्कार उन गुरुओं को, जिनकी चर्या समरस सानी॥

दर्शन दाता देव हैं, आगम सम्यक ज्ञान ।
गुरु चारित्र की खानि हैं, मैं वन्दूं धरि ध्यान ॥
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

देव शास्त्र गुरु पूजा

(वन्दना)

केवलरवि-किरणों से जिसका सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर ।
उस श्री जिनवाणी में होता, तत्त्वों का सुन्दरतम दर्शन ॥
सद्दर्शन बोध चरण पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण ।
उन देव परम आगम गुरु को शत शत वंदन शत शत वंदन ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।
(पुष्पांजलि क्षिपेत्)

जल

इन्द्रिय के भोग मधुर विष सम, लावण्यमयी कंचन काया ।
यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया ॥
मैं भूल स्वयं के वैभव को, पर ममता में अटकाया हूँ ।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिए, मिथ्या मल धोने

उज्वल जल भरके अशुच नीर तन सकल रोग नम जाय पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम म रम जावो पुजारी ॥१॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मिथ्यात्वमलविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ जल ॥

चन्दन

जड़ चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने अपने मे होती है।
अनुकूल कहे प्रतिकूल कहे, यह झूठी मन की वृत्ती है ॥
प्रतिकूल सयोगों में क्रोधित होकर ससार बढ़ाया है।
सन्तप्त हृदय प्रभु! चन्दन सम शीतलता पाने आया है ॥
चार दान रूपी चन्दन से भवकी तपन मिटावो पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम म रम जावो पुजारी ॥२॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो क्रोधकषायमलविनाशनाय च दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ चन्दन ॥

अक्षत

उज्ज्वल हूँ कुन्दधवल हूँ प्रभु, परसे न लगा हूँ किंचित् भी।
फिर भी अनुकूल लगे उन पर करता अभिमान निरन्तर ही ॥
जड़ पर झुक-झुक जाता चेतन की मार्दव की खण्डित काया।
निज शाश्वत अक्षत-निधि पाने अब दास चरणरज म आया ॥
उत्तम अक्षत लेकर भाई, भाव अखड बनाओ पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम मे रम जावो पुजारी ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मानकषायमलविनाशनाय अक्षतं
(नि)र्वपामीति स्वाहा ॥ अक्षत ॥

पुष्प

(य)ह पुष्प सुकोमल कितना है, तनमें माया कुछ शेष नहीं।
(नि)ज अन्तर का प्रभु ! भेद कहूँ, उसमें ऋजुता का लेश नहीं
(चि)न्तन कुछ, फिर संभाषण कुछ, वृत्ती कुछ की कुछ होती है।
(स्)थिरता निजमें प्रभु पाऊँ जो, अन्तर का कालुष धोती है ॥
(उ)त्तमभाव मय पुष्प चढ़ाकर, काम का घर्ष मिटाओ पुजारी
(औ)र कहीं मत जाओ, निज आतम में रम जाओ पुजारी ॥४॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मायाकषायमलविनाशनाय पुष्पं
(नि)र्वपामीति स्वाहा ॥ पुष्प ॥

नैवेद्य

(अ)ब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, [illegible] न मेरी भाँव [illegible]
(तृ)ष्णा की खाई खूब भरी, पर [illegible] वह रिक्त [illegible]
(यु)ग-युग से इच्छा-सागर में, [illegible] खाता आया।
पंचेन्द्रिय मनके षट्रस तज, [illegible] पीने आया।
तृष्णा क्षुधा करत अति व्याकुल [illegible] मिटाने [illegible]
और कहीं मत जाओ, निज [illegible] में जाओ [illegible]

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो [illegible]
निर्वपामीति स्वाहा ॥ नैवेद्य ॥

उज्वल जल भरके अशुच नीर तन सकल रोग नम जाप पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम में रम जावो पुजारी ॥१॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मिथ्यात्वमलविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ॥ जल ॥

चन्दन

जड़ चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने अपने में होती है।
अनुकूल कहे प्रतिकूल कहे, यह झूठी मन की वृत्ती है॥
प्रतिकूल सयोगों मे क्रोधित होकर ससार बढ़ाया है।
सन्तप्त हृदय प्रभु! चन्दन सम शीतलता पाने आया है॥
चार दान रूपी चन्दन से मबकी तपन मिटावो पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम म रम जावो पुजारी ॥२॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो क्रोधकषायमलविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥ चन्दन ॥

अक्षत

उज्ज्वल हूँ कुन्दधवल हूँ प्रभु, परसे न लगा हूँ किंचित् भी।
फिर भी अनुकूल लगे उन पर करता अभिमान निरन्तर ही॥
जड़ पर झुक-झुक जाता चेतन की मार्दव की खण्डित काया।
निज शाश्वत अक्षत-निधि पाने अब दास चरणरज मे आया॥
उत्तम अक्षत लेकर भाई, भाव अखड बनाओ पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम मे रम जावो पुजारी॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मानकषायमलविनाशनाय अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ॥ अक्षत ॥

पुष्प

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तनमें माया कुछ शेष नहीं।
निज अन्तर का प्रभु ! भेद कहूँ, उसमें ऋजुता का लेश नहीं ॥

चिंतन कुछ, फिर संभाषण कुछ, वृत्ती कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निजमें प्रभु पाऊँ जो, अन्तर का कालुष धोती है ॥

परमभाव मय पुष्प चढ़ाकर, काम की कामी मिटादो पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम में रम जावो पुजारी ॥४॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मायाकषायमलविनाशनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ पुष्प ॥

नैवेद्य

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु ! भूख न मेरी शांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही।

युग-युग से इच्छा-सागर में, प्रभु ! गोते खाता आया हूँ।
पंचेन्द्रिय मनके षट्‌रस तज, अनुपम रस पीने आया हूँ ॥

तृष्णा क्षुधा करत अति व्याकुल, पर संतोष मिटादो पुजारी।
और कहीं मत जावो, निज आतम में रम जावो पुजारी ॥५॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो लोभकषायमलविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ नैवेद्य ॥

दीप

जग के जड दीपक को अब तक, समझा था मैंने उजियारा।
झझा के एक झकोरे मे जो बनता घोर तिमिर कारा ।
अतएव प्रभो! यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूँ।
तेरी अन्तर लौ से निज अन्तर दीप जलाने आया हूँ ॥
मोह महातम मे नहिं रहे, ज्ञानकी जोति जगावो पुजारी ।
और कहीं मत जावो, निज आतम में रम जीवो पुजारी ॥६॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो अज्ञानांधकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ दीप ॥

धूप

जड़ कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्राति रही मेरी।
म रागी–द्वेषी हो लेता जब परिणति होती जड़ केरी ॥
यों भावकरम या भावमरण सदियों से करता आया हूँ।
निज अनुपम गंध अनल से प्रभु पर गंध जलाने आया हूँ ॥
क्रोध मान माया लोभादिक, इनकी धूप बनावो पुजारी ।
तपकी अग्नी म स्वाहा कर तुम कुन्दन बन जावो पुजारी ॥७॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो विभावपरिणतिविनाशनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ धूप ॥

फल

जग में जिसको निज कहता म, वह छोड़ मुझे चल देता है।
मैं आकुल व्याकुल हो लेता, व्याकुल का फल व्याकुलता है ॥

मैं शांत निराकुल चेतन हूँ, है मुक्तिरमा सहचरि मेरी।
यह मोह तड़क कर टूट पड़े प्रभु ! सार्थक फल पूजा तेरी ॥
संसार के झूठ फल तजकर, मोक्ष सुख फल चाहो पुजारी।
मैयालाल पुजारी मत तुम, तुम्ही पूज्य बन जाओ पुजारी।
और कहीं मत जाओ, निज आतम में रम जाओ पुजारी ॥८॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्ताय फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ फलं ॥

अर्घ

क्षण भर निज रस को पी चेतन, मिथ्या मल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द अमृत पीता है ॥
अनुपम सुख तब विकसित होता, केवलरवि जगमग करता है।
दर्शन बल पूर्ण प्रगट होता, यह ही अर्हंत अवस्था है ॥
यह अर्घ समर्पण करके प्रभु ! निज गुण का अर्घ बनाऊँगा।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु ! अर्हंत अवस्था पाऊँगा ॥९॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो अनर्घपदप्राप्ताय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ अर्घ ॥

स्तवन (जयमाला)

भव-वन में जी भर घूम चुका, कण-कण को जी भर भर देखा।
मृग-सम मृग-तृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की

अनित्य भावना

झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशायें।
तन जीवन यौवन अस्थिर हैं, क्षणभगुर पल मे मुरझाए ॥२॥

अशरण भावना

सम्राट महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या ?
अशरण मृग काया में हर्षित,निज जीवन डाल सकेगा क्या ॥३॥

ससार भावना

संसार महादुख सागर के, प्रभु दुखमय सुख आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी,कचन कामिनि प्रासादों में॥४॥

एकत्व भावना

मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते।
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड चले जाते॥

अन्यत्व भावना

मेरे न हुये ये मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निजमे परसे अन्यत्व लिये, निज समरस पीने वाला हूँ॥६॥

अशुचि भावना

जिसके शृङ्गारों में मेरा, यह महगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥७॥

आस्रव भावना

दिन रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।
मानस वाणी औ काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता॥८॥

संवर भावना

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल ।
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल ॥९॥

निर्जरा भावना

फिर तप की शोधक वह्नि जगे, कर्मों की कड़ियां टूट पड़ें ।
सर्वांग निजात्म प्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें ॥१०॥

लोक भावना

हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकान्त विराजें क्षण में जा ।
निज लोक हमारा वासा हो शोकांत बनें फिर हमको क्या ॥११॥

बोधिदुर्लभ भावना

जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो ! दुर्नय तम सत्वर टल जावे ।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊं, मद मत्सर मोह विनश जावे ॥१२॥

धर्म भावना

चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी ।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी ॥१३॥
चरणों में आया हूं प्रभुवर, शीतलता मुझको मिल जावे ।
मुरझाई ज्ञानलता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जावे ॥१४॥
सोचा करता हूं भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला ।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानों पावक में घी डाला ।

तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रियसुख की ही अभिलाषा।
अब तक न समझ पाया मैं प्रभु, सच्चे सुख की भी परिभाषा॥
तुम तो अविकारी हो प्रभुवर ! जग में रहते जग से न्यारे।
अतएव झुके तव चरणों में, जग के माणिक मोती सारे॥१७॥
स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभ नय के झरने झरते हैं।
उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भववारिधि तिरते हैं॥१८॥
हे गुरुवर ! शाश्वत सुखदर्शक, यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करने वाला है॥१९॥
जब जग विषयों में रचपचकर, गाफिल निन्द्रा में सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथमें विषकंटक बोता हो॥२०॥
हो अर्धनिशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।
तब शांत निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिंतन करते हों॥२१॥
करते तप शैल नदीतट पर, तरुतल वर्षा की झड़ियों में।
समतारस पान किया करते, सुख-दुख दोनों की घड़ियों में॥२२॥
अन्तरज्वाला हरती वाणी, मानो झड़ती हों फुलझड़ियां।
भवबंधन तड़ तड़ टूट पड़ें, खिल जावें अंतर की कलियां॥२३॥
तुमसा दानी क्या कोई है, जग को दे दी जग की निधियां।
दिनरात लुटाया करते हो, सम शम की अविनश्वर मणियां॥२४॥

दुखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा ।
निराकृताशेषममत्वबुद्धे, मम मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥३॥

भावार्थ—हे नाथ ! दुःख सुख, शत्रु-मित्र सयोग-वियोग महल व उद्यान वन) आदि मे ममत्व (इष्ट अनिष्ट) बुद्धि हट कर मेरे सदैव समताभाव मन में रहे ॥ ३ ॥

मुनीश लीनाविव कीलिताविव स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

भावार्थ—हे मुनीश ! दीपक के समान अन्धकार को नाश करने वाले तेरे चरण कमल मेरे हृदय में इस प्रकार सदा के लिये स्थिर हो जावें, लय हो जावें मानो कील दिये गये हों, अथवा बिम्ब के समान उकीरे गये हों। तात्पर्य, मेरा मन तुम्हारे चरणों के आश्रित होकर चचलता रहित स्थिर हो जाव अन्यत्र विषय कषायों में न जाने पावे ॥ ४ ॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिन , प्रमादत. सचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥

भावार्थ-हे देव ! यदि मेरे द्वारा एकेन्द्री आदि (त्रस स्थावर) जीवों की प्रमाद से हलते चलने हुव विराधना हुई हो, वे पीड़ित किये गये हों, मिलाये गये हो, पृथक् किये गये हों, सो सब दुष्कृत्य मिथ्या होवे ॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपन, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

भावार्थ—हे प्रभो ! सन्मार्ग (मोक्ष मार्ग) से विपरीत जो

मैंने इन्द्रियों के विषयों तथा कषाय के वश में होकर शुद्ध चारित्र का लोप कर दिया है सो सब दुष्कृत्य मेरे मिथ्या होवें ॥ ६ ॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनो वचः कायकषायनिर्मितं ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मंत्र गुणैरिवाखिलम् ॥७॥

भावार्थ—मेरे मन वचन काय तथा कषायों के द्वारा जो संसारदुःखों के कारण पाप कर्म हुआ है उसे मैं अपनी निन्दा आलोचना व गर्हा करके उसी प्रकार निर्मूल करता हूँ, जैसे मंत्र या दवा के योग से रोग व विष दूर किया जाता है ॥ ७ ॥

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मैंने चारित्र मार्ग में जो अतिक्रम, व्यतिक्रम अतिचार या अनाचार प्रमाद के वशमें होकर किए हैं, सो सब प्रतिक्रमण करके शुद्ध करता हूँ ॥ ८ ॥

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

भावार्थ—एकदेश मन वचन काय के द्वारा शील व्रतों का उल्लंघन होने से विषयों में प्रवृत्ति हो जाना सो अतिक्रम, व्यतिक्रम अतिचार कहाते हैं और जो सम्पूर्ण रीति से शील व्रतादि को भंग कर देना सो अनाचार कहा जाता है । ॥ ९ ॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं, मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तं ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवि सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

भावार्थ—हे सरस्वती ! हे जिनवाणी माता ! मुझ से प्रमाद वश यदि अर्थ पद मात्रा वाक्यादि हीनाधिक कहे गए हों, सो मम अपराध क्षमा होवें, ताकि में सर्वज्ञ पद को प्राप्त हो सकूं ॥१०॥

बोधि समाधि परिणामशुद्धि स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिंतामणि चिंतितवस्तुदाने, त्वा वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

भावार्थ—हे सरस्वती देवी ! तू चिन्तामणि के समान चिंतित पदार्थ देने में समर्थ है, मैं तेरी वन्दना करता हूं, ताकि मुझे बोधि समाधि, परिणामों की निर्मलता, स्वात्मा की प्राप्ति और मोक्षसुख की सिद्धि होवे ॥ ११ ॥

यः स्मर्य्यते सर्वमुनीन्द्र वृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो मुनीन्द्रवृन्दों (समूहों) से स्मरण किया जाता है, जो सब मनुष्यों के तथा देवों के स्वामी (इन्द्रों) से पूजा जाता है स्तुत्य है, जो वेद पुराण व शास्त्रों में वर्णित है, सो देवों के देव हमारे हृदय में निवास करो ॥१२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसारविकारबाह्यः ।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो अनन्त दर्शन ज्ञान सुख स्वरूप है जो संसार के समस्त विकारों से रहित है जो समाधि के द्वारा जानने के योग्य है और परमात्म पद को प्राप्त हो गया है, सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो ॥१३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो संसार व जन्म मरणादि दुःखों का निर्मूल कर्ता है, जिसने समस्त जगत् को सान्त जान लिया है, जो योगिजनों द्वारा समाधि से जाना जाता है, सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो ॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो मोक्षमार्ग का नेता (बताने वाला) है, जो जन्म मरण आदि दुःखों से रहित है, जो अलोक सहित तीनों लोकों को जानने वाला कर्मकलङ्क से रहित है, सो देवों का देव मेरे हृदय में निरन्तर रहो ॥१५॥

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा, रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जिन रागद्वेषादि भावों के कारण संसार के समस्त जीव कर्मों से फंसे हुये दुःखी हो रहे हैं, उनको जिसने सम्पूर्ण रूप से निर्मूल कर दिया है, जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान स्वरूप है अर्थात् पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ है, जो अपाय है, सो देवों का देव मेरे हृदय में वास करो ॥ १६ ॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो समस्त जगत् का कल्याण करनेवाला, अपने स्वरूप में रहता हुआ भी ज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक में व्यापक है, जो सिद्ध है, बुद्ध है और शुद्ध अर्थात् कर्मबन्ध से रहित है, सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो ॥१७॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैः, यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरंजनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ—जिसको कर्मकलङ्क आदि दोष स्पर्श भी नहीं कर सकते, जैसे सूर्य को अंधकार स्पर्श नहीं कर सकता। जो निर्मल, नित्य, एक (द्रव्यापेक्षया, अभेदनय से) तथा अनेक स्वरूप (गुणापेक्षयाभेद कल्पना से) है, उस आप्तदेव की शरण को प्राप्त होता हूँ ॥१८॥

विभासते यत्र मरीचिमाली, न विद्यमाने भुवनावभासी ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ—जहां सूर्य का प्रकाश भी नहीं पहुँच सकता, वहां भी जो अपने ज्ञान से प्रकाश करता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश अमुक २ क्षेत्र और काल तक ही परिमित है, परन्तु उसका ज्ञान सर्व काल और सर्व क्षेत्रों में व्यापक है तथा जो ज्ञानमय प्रकाश से व्यापक होते हुए भी स्वात्मा में ही स्थित है, सो आप्तदेव की शरण को प्राप्त होता हूं ॥१९॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ—जिसके ज्ञान में समस्त जगत् स्पष्ट और प्रत्यक्ष अपनी त्रिकालवर्ती अवस्थाओं सहित युगपत् दिखाई देता है तथा जो शुद्ध (कर्ममल रहित) शिव (कल्याण का करने वाला) शांत और अनादि अनन्त है, सो देवों के देव आप्त की शरण को प्राप्त होता हूं ॥२०॥

और न में भी कदाचित् किंचित् भी उनका हूँ, वे मुझसे-और
मैं उनसे पर हूँ, ऐसा विचार कर हे स्वात्मन् ! स्वस्थ हो, जिससे
तू मुक्त हो सके ॥२४॥

आत्मानमात्मन्यविलोकयमानवः, त्व दर्शनज्ञानमयो विशुद्ध ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! अपने आत्मा को अपने ही आत्मा
मे देख। तू ही दर्शन ज्ञानमय निर्मल स्वरूप है। इसी प्रकार
निश्चय से, अपने चित्त को एकाग्र करके साधुजन समाधि को
प्राप्त कर लेते हैं ॥ २५ ॥

एक सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभाव ।
बहिर्भवा: सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वता: कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

भावार्थ—मेरा आत्मा नित्य, शुद्ध एक, ज्ञानस्वभावी
है, इसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ मेरे स्वरूप से भिन्न पर
हैं। और तो क्या स्वकीय कर्म भी मेरे नित्य नहीं हैं। तात्पर्य
मैं समस्त पर द्रव्य और उनके भावों से रहित एक शुद्ध चैतन्य
ज्ञाता दृष्टा नित्य अखड आत्मा हू ॥२६॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

भावार्थ—जब कि शरीर भी, जो निरतर साथ रहता है,
अपना नहीं है, तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री, पुत्र,
मित्रादि कैसे अपने हो सकते हैं ? जब कि शरीर पर का चर्म ही
पृथक् कर दिया जाय तो, रोमछिद्र भला कैसे ठहर सकते हैं.?
नहीं ठहर सकते ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनां ॥

भावार्थ—बाह्य पर वस्तुओं के संयोग होने से जीव संसार-वन में नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है । इस लिए यदि दुःखों से छूटकर शीघ्र ही मोक्षसुख प्राप्त करना चाहते हो, तो मन वचन काय से समस्त पर वस्तुओं का संबंध त्याग करो ॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥

भावार्थ—समस्त विकल्पजालों को जो संसाररूपी गहन वन में फंसाने (डालने) वाले हैं, त्याग कर अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करो, उसे विकल्पों से पृथक् जानो और परमात्मस्वरूप में निमग्न हो जाओ, लीन हो जाओ ॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

भावार्थ—अपने ही पूर्वोपार्जित कर्म आपको शुभ किंवा अशुभ फल (सुख दुःख) देते हैं, अन्य कोई नहीं । यदि अन्य कोई भी आपको सुख दुःखादि देने लगे, तो अपने किये कर्म निष्फल ही ठहरेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता । जो कर्म करता है वही उनका फल आपही भोगता है, यही सत्य है ॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्

भावार्थ—संसारी प्राणियों को आई (अपने) को

जित कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी किसी को कुछ भी नहीं देता, ऐसा विचार करके ही पर से ममत्वबुद्धि को त्याग कर अपने ही शुद्ध स्वरूप में रम जाना चाहिये ॥३१॥

यै परमात्माऽमितगति वन्द्य, सर्वविविक्तो भृशमनवद्य ।
शश्वदधीते मनसि लभते, मुक्तिनिकेत विभववर ते ॥

भावार्थ—अमितगति आचार्य से पूज्य जो निर्दोष सर्वज्ञ अतिशयवान् शुद्ध परमात्मा है, उसका जो अपने अन्त करण में एकाग्रचित्त होकर ध्यान करेंगे, वे नित्य अतीन्द्रिय अनुपम स्वाधीन सुख को पावेंगे। अतएव उसीका ध्यान करना चाहिये ॥३२॥

इति द्वात्रिंशतावृत्तैः, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥

भावार्थ—उक्त बत्तीस छन्दों के द्वारा जो परमात्मा का एकाग्र चित्त से ध्यान करता है, वह शीघ्र ही परमपद-निर्वाण को पाता है।

मेरी भावना

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥ १ ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो ॥ २ ॥
विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज पर के हित-साधन में जो, निशदिन तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥
स्वार्थत्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुख—समूह को हरते हैं ॥ ४ ॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उन ही जैसी चर्या में यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥ ५ ॥
नहीं सताऊँ किसी जीव को झूठ कभी नहिं कहा करूँ।
पर-धन वनिता पर न लुभाऊँ, संतोषामृत पिया करूँ ॥ ६ ॥
अहङ्कार का भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्षा भाव धरूँ ॥ ७ ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ ॥ ८ ॥
मैत्री—भाव जगत में मेरा सब जीवों पर नित्य रहे।
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा—स्रोत बहे ॥ ९ ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझ को आवे।
साम्य-भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥ १० ॥
गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे ॥ ११ ॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे ॥ १२ ॥
कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे ॥ १३ ॥
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे।
तो भी न्यायमार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे ॥ १४ ॥
होकर सुख में मग्न न फूलूँ, दुख में कभी न घबराऊँ
पर्वत-नदी-श्मशान-भयानक, अटवी से नहिं भय खाऊँ ॥ १५
रहे अडोल अकम्प निरंतर यह मन दृढ़तर बन
इष्टवियोग-अनिष्टयोग में, सहनशीलता दिखलावे

सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मङ्गल गावे ॥ १७॥
घर घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावें।
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म-फल सब पावें ॥ १८॥
ईति भीति व्यापे नहिं जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे ॥ १९॥
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत में, फैल सर्वहित किया करे ॥ २०॥
फैले प्रेम परस्पर जग में मोह दूर पर रहा करे।
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहिं, कोई मुख से कहा करे ॥ २१॥
बनकर सब 'युग-वीर' हृदय से, देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तुस्वरूप विचार खुशी से, सब दुख-सङ्कट सहा करें ॥ २२॥

मेरी चाहना

मैं देव नित अरहंत चाहूं, सिद्ध का सुमिरन करों।
मैं सुर गुरु मुनि तीन पद, मैं साधु पद हिरदय धरों॥
मैं धर्म करुणामयी चाहूँ, जहां हिंसा रंच ना।
मैं शास्त्रज्ञान विराग चाहूं, जासु में परपंच ना ॥१॥
चौबीस श्री जिनदेव चाहूँ, और देव न मन बसें।
जिन बीस क्षेत्र विदेह चाहूं, वंदिते पातिक नसें॥
गिरनार शिखर सम्मेद चाहूं, चम्पापुरी पावापुरी।
कैलाश श्री जिनधाम चाहूँ, भजत भाजें भ्रम जुरी ॥२॥
नव तत्त्व का सरधान चाहूँ, और तत्व न मन धरों।
षट् द्रव्य गुण परजाय चाहूँ, ठीक तासों भय हरों॥
पूजा परम जिनराज चाहूं, और देव न हू सदा।
का मैं जाप चाहूं, पाप नहिं लागै कदा ॥३॥

सम्यक दर्शन ज्ञान चारित्र, सदा चाहूं भाव सों ।
दशलक्षणी मैं धर्म चाहूं महा हर्ष उछाव सों ॥
सोलह जु कारण दुख निवारण, सदा चाहूं प्रीति सों ।
मैं चित अठाई पर्व चाहूं, महा मंगल रीति सों ॥४॥
मैं वेद चारों सदा चाहूं, आदि अन्त निवाह सों ।
पाए धरम के चार चाहूं, अधिक चित्त उछाह सों ॥
मैं दान चारों सदा चाहूं, भुवनवशि लाहा लहूं ।
आराधना मैं चारि चाहूं, अन्त मैं जेई गहूं ॥५॥
भावना बारह सदा भाऊं भाव निरमल होत हैं ।
मैं व्रत जु बारह सदा चाहूं, त्याग भाव उद्योत हैं ॥
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूं, ध्यान आसन सोहना ।
वसु कर्म तैं मैं छुटा चाहूं, शिव लहूं जहं मोहना ॥६॥
मैं साधुजन को संग चाहूं प्रीति तिनही सों करौं ।
मैं पर्व के उपवास चाहूं, आरंभ मैं परिहरौं ॥
इस दुःख पंचम काल मांही, कुल श्रावक मैं लह्यौ ।
अरु महाव्रत धरि सकौं नाहीं, निबल तन मैंने गह्यौ ॥७॥
आराधना उत्तम सदा चाहूं, सुनो जिनराय जी ।
तुम कृपानाथ अनाथ ध्यातम, दया करो न्याय जी ॥
वसु कर्म नाश विकाश ज्ञान, प्रकाश मोको कीजिए ।
करि सुगति गमन समाधि-मरन, सुभक्ति चरनन दीजिए ॥८॥

चौबीसों भगवान का स्तवन

रोग अरु भय शोक होवें दूर, सब परमात्मा।
करि सर्व कल्याण जीता, सब जगत का आत्मा॥

आत्म-कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम ज्ञाता द्रष्टा आतमराम।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान जो मैं हूँ वह हैं भगवान॥
अन्तर यही ऊपरी जान वे विराग यहुँ राग वितान।
मम स्वरूप है सिद्ध समान अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान॥
किन्तु आशावश खोया ज्ञान बना भिखारी निपट अजान।
सुख दुख दाता कोई न आन मोह राग रुष दुख की खान॥
निज को निज पर को पर जान फिर दुख का नहिं लेश निदान।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम॥
राग त्याग पहुँचू निज धाम आकुलता का फिर क्या काम।
होता स्वय जगत परिणाम मैं जग का करता क्या काम॥
दूर हटा परकृत परिणाम, ज्ञायक भाव लखूं अभिराम।
होता विश्व स्वय परिणाम क्या बनता दुख का धाम॥

भगवान महावीर से।

तुम से है मम विनय तुम बिना को सुने मेरी पुकार।
तारो नैया मेर वीर स्वामी॥ टेक॥

तुमने मार्ग सुगम कर दिखाया, मोक्ष जान का [illegible]।
बुद्धि निर्मल करो, भव की बाधा हरो [illegible]॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी॥ तुमसे है० ॥

कोई भट न तुमने को पुकारा उसके फिरे [illegible] किनारा
आया जल से निकल आया जल से [illegible]॥
तारो नैया मेर वीर स्वामी॥ तुमसे है० ॥

तुमने तिलका के सत को बचाया, उसके पति से उसे फिर मिलाया।
कष्ट दीनी-दमन वो रही निज भवन, मोक्षगामी ॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी ॥ तुमसे है मम० ॥
तुमने चीर द्रौपदी का बढ़ाया, दुष्ट पापी से उसको बचाया।
लाज लीनी रखा, जैजैकार मचा अन्तर्यामी ॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी ॥ तुमसे है मम० ॥
ध्यान सीता ने इकदम लगाया, अग्निकुण्ड में जल को बहाया।
कूद उसमें पड़ी, न लगी इक घड़ी पारगामी ॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी ॥ तुमसे है मम० ॥
मुझको माया ने घर घर दबाया, क्रोध इषा ने तन को जलाया।
मैं कैसे करूँ नित भजन, सुनले त्रिमला ललन मोक्षगामी ॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी ॥ तुमसे है मम० ॥
मुझको अपनी सेवा में लाओ, कर्म-बंधन से हमको छुड़ाओ।
मैंने लीनी शरण मेरे तारण तरण अन्तर्यामी ॥
तारो नैया मेरे वीर स्वामी ॥ तुमसे है मम० ॥

महावीर-कीर्तन

सब मिलके आज जय कहो श्री वीर प्रभु की।
मस्तक झुका के जय कहो, श्री वीर प्रभु की ॥टेक॥
विघ्नों का नाश होता है लेते से नाम के,
माला सदा जपते रहो श्री वीर प्रभु की ॥
ज्ञानी बनो दानी बनो बलवान भी बनो
अकलंक सम बन जय कहो श्री वीर प्रभु की ॥
होकर स्वतन्त्र धर्म की रक्षा सदा करो,
निर्भय बनो अरु जय कहो श्री वीर प्रभु की।

तुमको भी अगर मोक्ष की इच्छा हुई है दास।
उस वाणी पर श्रद्धा करो औ ध्यान प्रभु की॥
सब मिलके आज जय कहो श्री वीर प्रभु की॥

देव-स्तुति

आलोकित हो लोक में, प्रभु परमात्मप्रकाश।
आनन्दामृत पान कर, मिटे सभी की प्यास॥

(पद्धड़ी छन्द)

जय ज्ञानमात्र ज्ञायक स्वरूप तुम हो अनन्त चैतन्यरूप।
तुम हो अखण्ड आनन्द पिंड, मोहारि दलन को तुम प्रचण्ड॥
प्रभु भवदधि यह गहरो अपार, बहते जाते सब निराधार।
तुमने बतलाया है अपार कैसे होवे संसार पार॥
प्रभु शिवरमणी के हृदय हार, तुमने बतलाया तत्त्वसार।
पाया मैं ना उसकी पिछान, उल्टा ही मैंने किया मान॥
शुभ अशुभराग जो दुःखखान, उसमें माना आनंद महान।
प्रभु अशुभ कर्म को मान हेय, माना पर शुभ को उपादेय॥
जो धर्मध्यान आनन्द रूप, उसको माना मैं दुःखस्वरूप।
मनवांछित चाहे नित्य भोग, उनको ही माना है मनोग॥
इच्छानिरोध की नहीं चाह, कैसे मिटता भव विषय दाह।
आकुलतामय संसार सुख, जो निश्चय से है महादुःख॥
उसकी ही निशदिन करी आश, कैसे मिटता संसारत्रास।
भवदुःख का पर को हेतु जान, पर से ही सुख को लिया मान॥
मैं दयानिधान अभिमान ठान, ममता पद पर नहिं दिया ध्यान।
पूजा कीनी वरदान मांग, कैसे मिटता संसार स्वांग॥

तेरा स्वरूप लख प्रभू आज हो गये सफल सम्पूर्ण काज।
मो उर प्रगटयो प्रभु भेदज्ञान मैंने तुमको लीना पिछान ॥
तुम पर के कर्ता नहीं नाथ, ज्ञाता हो सबके एक साथ।
तुम भक्तों को कुछ नहीं देत, अपने समान बस बना लेत ॥
यह मैंने तेरी सुनी आन, जो लेवे तुमको बस पिछान।
वह पाता है कैवल्यज्ञान, होता पर को न कलानिधान ॥
मेरे मनमें बस यही चाह, निज पद को पाऊँ हे जिनाह।

(दोहा)

पर का कुछ नहिं चाहता, चाहू अपना भाव।
निज स्वभाव मे थिर रहूँ, मटो सकल विभाव ॥

शास्त्र-भक्ति

करों भक्ती तेरी हरो दुख माता भ्रमन का।
अकेला हो हूँ मैं, कम सब आये सिमट के ॥
लिया है मैं तेरा शरण अब माता सटक के।
भ्रमावत है मोको, कम दुःख देता जनम का ॥
दुखी हुआ भारी भ्रमत फिरता हूँ जगत म।
सहा जाता नाहीं अकल घबरानी भ्रमण में ॥
करूँ क्या मां मोरी चलत बस नाहीं मिटन का।
सुनो माता मोरी अरज करता हू दरद में।
दुखी जानो मार्यो डरपकर आया शरण में ॥
कृपा ऐसा कीजे दरद मिट जावे मरण का।
पिलावे जो मोकों सुपथ कर प्याला अमृत का ॥
मिटावे जो मेरा सब दुःख सारा फिरन का।
पदों पाया तेरे हरो दुःख सारा फिकर का ॥

(सवैया)

मिथ्यातम नाशवे को ज्ञान के प्रकाशवे को,
आपा-पर भासवे को भानु सी बखानी है।
छहों द्रव्य जानवे को बन्ध विधि भानवे को,
स्व-पर पिछानवे को परम प्रमानी है।
अनुभव बतायवे को जीव के जतायवे को,
काहू न सतायवे को भव्य उर आनी है।
जहाँ तहाँ तारवे को पार के उतारवे को,
सुख विस्तारवे को यही जिनवाणी है।

दोहा—

जिनवाणी की स्तुति, अल्प बुद्धि [illegible]
पन्नालाल विनती करें, [illegible]
हे जिनवाणी भारती, [illegible]
जो तेरा शरणा गहै, सो [illegible]
जा वाणी के ज्ञानतें [illegible]
सो वाणी मस्तक धरों [illegible]

रतन तृण कांच कंचन मित्र अरि अहि माल सम जाने।
सभी सुख दुःख मरण जीवन से रागद्वेष हैं
तरण तारण गुरु सच्चे अगर हैं तो दिगम्बर हैं।
यही संसार के 'मक्खन' हितैषी बंधु प्यारे
परम निग्रंथ साधु वीतरागी गुरु हमारे हैं॥

अंतिम समय के लिए प्रार्थना

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ ॥टेक॥
शत्रू अगर कोई हो संतुष्ट उनको करदूँ।
समता का भाव धर कर, सबसे क्षमा कराऊँ ॥दिन रात॥
त्यागू अहार पानी, औषध विचार अवसर।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ ॥दिन रात॥
जागें नहीं कषाय नहि वेदना सतावे।
तुम से ही लौ लगी है दुर्ध्यान को भगाऊँ ॥दिन रात॥
आतमस्वरूप अथवा, आराधना विचारूं।
अरहंत सिद्ध साधू, रटना यही लगाऊँ ॥दिन रात॥
धर्मात्मा निकट हों, चरचा धरम सुनावें।
वो सावधान रक्खें गाफिल न होने पाऊँ ॥दिन रात॥
जीने की हो न वांछा मरने की हो न इच्छा।
परिवार मित्र जनसे मैं मोह को हटाऊँ ॥दिन रात॥
भोग जो भोग पहले उनका न होवे सुमरन।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ ॥दिन रात॥
सम्यक्त का हो पालन, हो अंत में समाधी।
'शिवराम' प्रार्थना यह, जीवन सफल बनाऊँ ॥दिन रात॥

नम्र—निवेदन

卐

नरा परम सौभाग्य है कि पूज्य श्री १०५ ऐलक वृषभसागर हाराज ने हम लोगों की प्रार्थना स्वीकार करके हमारे छोटे सैदपुर म चातुमास यापन किया।

उनके इस चातुमास में हमारे ग्राम को ही नहीं अपितु निकट अनक गांवों क धर्म-पिपासु नर-नारियों को धर्मोपदेश का मिला है।

चातुर्मास-समाप्ति पर महाराज जी का अन्यत्र विहार हो था, किन्तु हमारे अनुरोध पर हमार पुण्योदय से आपने यहाँ पदार्पन का कृपा की और हम सब को उनके केशलोंच उत्सव योग मिला।

महाराज के द्वारा सग्रहीत यह पुस्तक इसी शुभ अवसर पर हित करक आपके कर कमलों में समर्पित करते हुये महत तृप्ति आनंद का अनुभव हो रहा है।

सैदपुर
८-११-६५

श्रद्धावनत—
मैपालाल परवार